दीनदयाल शोध संस्थान

दीनदयाल शोध संस्थान

सियाराम कुटीर

चित्रकूट, जिला सतना-485331 (मध्य प्रदेश)

दूरभाष : 07670-265353, 265510

ई-मेल : drichitrakoot@chitrakoot.org

पत्राचार का पताः

7-ई स्वामी रामतीर्थ नगर, नई दिल्ली-110 055

दूरभाष : 23526735, 23526792, 235244555 फैक्स : 23552812

ई-मेल : dridelhi@chitrakoot.org

SBG 9312032466/27015398

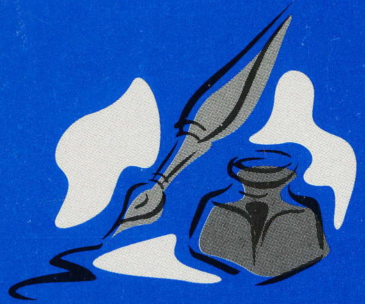

नानाजी की पाती युवाओं के नाम

दीनदयाल शोध संस्थान

नाना जी की पाती युवाओं के नाम

दीनदयाल शोध संस्थान

प्राक्कथन

आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में अनेक चुनौतियों से जूझ रहे अपने देश की वर्तमान स्थिति हरेक संवेदनशील मन को व्यथित करती है। हालांकि आज प्रत्येक समस्या का समाधान राजनीति द्वारा ढूंढने का चलन है, लेकिन प्रख्यात समाजसेवी व चिंतक नाना जी ने 70 के दशक में ही भांप लिया था, कि राजनीति से देश का उद्धार संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने चमकदार व सफल राजनीतिक जीवन से संन्यास लेकर युगानुकुल सामाजिक पुनर्रचना का अनुकरणीय नमूना जनता की पहल एवं पुरूषार्थ के आधार पर खड़ा करने का निर्णय लिया। गांवों में कोई गरीब न रहे, कोई बेकार न रहे, कोई बीमार न रहे, कोई भी अशिक्षित न हो तथा गांव हरा-भरा, साफ-सुथरा व विवादों से मुक्त हो। इसलिये दीनदयाल शोध संस्थान ने चित्रकूट क्षेत्र में सामूहिक प्रयत्न से परस्परपूरकता के आधार पर अनुकरणीय नमूना खड़ा करने का प्रयास किया है। इन प्रयोगों को सफलता प्राप्त हो रही है। देश के युवाओं ने इस दिशा में कदम बढ़ाये तो देश की गरीबी और बेकारी मिटाना मुश्किल नहीं है। इस कार्य के लिए न हमें अपनी सरकार की ओर ताकने की जरूरत है, और न ही विदेशी निवेश पर निर्भरता की। बस आवश्यकता है तो अपने सोऐ हुए पुरूषार्थ को जगाने की और यह काम सिर्फ देश की स्वाभिमानी युवा पीढ़ी ही कर सकती है।

इसलिए समय-समय पर मा. नानाजी ने युवाओं से संवाद स्थापित करने के लिए उनके नाम कई पत्र लिखे। उन पत्रों में जहां देश की वर्तमान समस्याओं का सटीक वर्णन है, वहीं उनके समाधान के लिए उनसे आह्वान भी किया गया है। इन महत्त्वपूर्ण पत्रों का पहला संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

दिनांक : 24 दिसंबर, 2004

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

मैं यह पत्र गहरे दु:ख और क्षोभ के साथ, परंतु पूरी जिम्मेदारी के भाव से लिख रहा हूं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमारा संघर्ष काफी यातनापूर्ण था और बहुत लंबे काल तक चलता रहा। इसके लिए देश के लाखों नौजवानों ने अपने प्राणों की आहूति दी। परंतु, इस सबके बावजूद इसकी परिणति खंडित भारत के रूप में हुई।

हमने संसदीय लोकतंत्र को चुना और मानव अधिकार के मूल तत्वों को अपने संविधान में शामिल किया। इसी संविधान ने केंद्र तथा राज्यों में विधायिका की व्यवस्था दी जो देशभर में एक संवेदनशील तथा उत्तरदायी शासन सुनिश्चित कर सके। दुर्भाग्य से इसकी परिणति एक ऐसे राजनीतिक नेतृत्व के रूप में हुई जिसने लोकतंत्र की मूल भावना से ही धोखा किया। यह राजशाही के संस्थानों की याद दिलाता है। स्थिति शायद उससे भी बुरी बनी है।

हमारे एक तिहाई से ज्यादा देशवासी अत्यंत गरीबी से जुझ रहे हैं। वे अपने मूलभूत अधिकारों से भी वंचित है। लगभग आठ करोड़ युवक-युवतियां बेरोजगारी की यातनाएं सहने के लिए मजबूर हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे राजनीतिक नेतागण, विशेषकर हमारे चुने हुए प्रतिनिधि अधिकाधिक धनवान बनते जा रहे हैं। इसने निश्चित रूप से हमारे लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिलाया है।

इस सबके ऊपर विडंबना यह है कि ऋण के बोझ तले दबती सरकार जहां बजट घाटे को नियंत्रित करने में नाकाम है वहीं जनता के तथाकथित प्रतिनिधि बेशर्मी से अपनी सुख-सुविधाओं का बोझ देश पर लादते चले जा रहे हैं। चूंकि विभिन्न राज्य सरकारों की राजस्व व गैर-राजस्व आय विभिन्न उत्तरदायित्वों की पूर्ति में चुक जाती है, इसलिए उन्हें विकास कार्यों के लिए आंतरिक व बाहरी कर्ज का सहारा लेना पड़ता है। इस तरह सरकारों के लिए विकास की प्राथमिकता दूसरे पायदान पर आती है।

वर्ष 2003-04 में केंद्र सरकार का आंतरिक व विदेशी कर्ज़ क्रमश: 11,34,020.35 करोड़ रुपये था। वहीं इस राशि पर केवल ब्याज के रूप में वर्ष 2003-04 में 1,24,554. 92 करोड़ रुपये की मोटी रकम खर्च की गई थी। (देखें तालिका)

ऋण से दबा केंद्र

	1950-51	2003-04
	(करोड़ रुपये में)	
लोक ऋण	2054.33	1181427.76
बाहरी ऋण	32.03	47407.41
अन्य भार	811.03	543071.06
1. राष्ट्रीय अल्प बचत निधि	336.87	232987.68
2. राज्य भविष्य निधि	95.05	55515.48
3. अन्य लेखे	16.10	167415.26
(i) गैर सरकारी भविष्य निधि की विशेष जमा राशि आदि	--	120125.00
(ii) अन्य मद	16.10	47290.26
4. प्रारक्षित निधियाँ एवं जमा	363.05	87152.64
(i) सब्याज 260.85	43501.32	
(ii) निर्ब्याज 102.20	43651.32	
कुल भार	**2865.40**	**1724498.82**
विभाजन पूर्व ऋण में पाकिस्तान द्वारा देय अंश (लगभग)	-300.00	-300.00
केन्द्र सरकार के मूल भार	2565.40	1724198.82
भार पर अतिरिक्त पूंजी लागत एवं ऋण	--	--
कुल (निवल)	2565.40	1724198.82

स्रोत : बजट, प्राप्तियाँ, (2004-05), वित्त मंत्रालय।

राज्य सरकारों पर भी इस समय 7,91,400 करोड़ रुपये की भारी भरकम कर्ज का बोझ है। प्रतिवर्ष इन राज्यों को अन्य गैर उत्पादक कार्यों के अलावा ऋण के इस बोझ को कम करने के लिए भी भारी भरकम धनराशि खर्च करनी पड़ती है। इसने एक ऐसे दुष्चक्र को जन्म दिया है जिससे न केन्द्र सरकार और न ही राज्य सरकारें बाहर आ पा रही हैं। (देखें तालिका)

ऋण में दबे राज्य (मार्च 2004 तक)

क्र.सं.	राज्य	कुल ऋण (करोड़ रुपये में)
1.	आंध्र प्रदेश	57,574
2.	अरूणाचल प्रदेश	1,118
3.	असम	15,043
4.	बिहार	49,882
5.	गोवा	3,449
6.	गुजरात	55,318
7.	हरियाणा	19,712
8.	हिमाचल प्रदेश	13,035
9.	जम्मू-कश्मीर	11,916
10.	कर्नाटक	38,091
11.	केरल	33,708
12.	मध्य प्रदेश	40,888
13.	महाराष्ट्र	71,759
14.	मणिपुर	2,463
15.	मेघालय	1,737
16.	मिजोरम	1,793
17.	नगालैण्ड	2,904
18.	उड़ीसा	33,756
19.	पंजाब	42,057
20.	राजस्थान	48,714
21.	सिक्किम	908
22.	तमिलनाडु	44,834
23.	त्रिपुरा	3,831
24.	उत्तर प्रदेश	104,079
25.	पश्चिम बंगाल	79,575
26.	दिल्ली (राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र)	13,254
	कुल -	791,400

स्रोत : आर.बी.आई.- निर्देशन पुस्तिका (सांख्यिकी) वित्त स्थिति 2004

आगामी अनुच्छेद और तालिकाएं इस दुःखद स्थिति की कहानी बयान करती हैं। संसद सदस्यों के वेतन और भत्तों के लिए 1954 में लागू किए गए कानून में 2002 तक 25 संशोधन किए जा चुके हैं। जाहिर है, इनका एकमात्र उद्देश्य तथा भावना सांसदों के वेतन, भत्तों, पेंशन व अन्य सुविधाओं में बढ़ोतरी करना ही था। कभी भी इस कानून की समीक्षा का प्रयास नहीं किया गया। ना ही सरकारी कर्मचारियों के वेतन निर्धारण के लिए वेतन आयोगों द्वारा हर दस वर्ष में अपनाई जाने वाली नीति की तरह मध्यम व दीर्घ कालिक दृष्टि से निर्णय किया गया। इसकी निरंतरता में तदर्थवाद की झलक ही मिलती है जिसका सीधा लाभ इन संसद सदस्यों को ही मिलता है। कोई भी परिवर्तन (बेशक, उत्तरोत्तर वृद्धि) करने के लिए केवल संसद के दोनों सदनों की संयुक्त समिति की अनुशंसा की जरूरत होती है। बिना किसी अपवाद के इस मामले में संसद की अनुमति महज औपचारिकता होती है। आम आदमी की समस्याओं और जनकल्याण से जुड़े मामलों पर विभिन्न राजनीतिक मतों में भले ही कभी आमराय न बनती हो, परंतु यह एक ऐसा

विषय है जिस पर सभी राजनीतिक दल, चाहे वामपंथी हों, दक्षिण पंथी या मध्यमार्गी, सभी एक सुर में बोलते नजर आते हैं। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पिछले 50 सालों में सांसदों के वेतन और भत्तें 90 गुना बढ़ गए हैं। यह लोकतंत्र का मजाक नहीं तो और क्या है?

यह न केवल आर्थिक व्यवहार के नियमों का उल्लंघन है बल्कि प्रशासनिक विधान की भी अवहेलना है। किसी भी ऐसी आवश्यकता जिसके लिए सरकारी खजाने से धन जाता हो, उसकी जाँच व अनुमति का काम ऐसी इकाई को करना चाहिए जिस पर इन निर्णयों का सीधा प्रभाव न पड़ता हो। नियम बदलने के अधिकारों से लैस कुछ सौ लोग इनका इस्तेमाल अपने निजी लाभ के लिए भी करने में नहीं हिचकते। दुनिया में कहीं भी संसदीय लोकतंत्र के अपहरण की इतनी घिनौनी मिसाल शायद ही कहीं मिलेगी।

पत्र के साथ संलग्न आंकड़ों पर नजर डालें तो मालूम पड़ता है कि सरकार हर महीने सांसदों को वेतन व भत्तों के रूप में लगभग 36,000 रुपये देती है, जिसमें से केवल 12,000 रुपये का वेतन ही आयकर के दायरे में आता है। इसे भी सरकारी बचत योजनाओं में थोड़े से निवेश से बचाया जा सकता है। सांसद दिल्ली में रहने के लिए नाममात्र का लायसेंस शुल्क अदा करते हैं जो इन आवासों की बाजार किराया दरों का नगण्य अंश है। यदि मुफ्त आवास, फोन कॉल्स (एसटीडी कॉल सहित) मोबाइल फोन, मुफ्त बिजली, पानी चिकित्सा सुविधा, निशुल्क उच्चतम श्रेणी की हवाई तथा रेल यात्रा का आर्थिक मूल्य जोड़ें तो एक सांसद पर मासिक खर्च कम-से-कम तीन लाख रुपये होता है। मोटे तौर पर यह एक भारतीय की सालाना प्रतिव्यक्ति आय का 150 गुना है। इसके अलावा कई अन्य प्रत्यक्ष खर्च भी है। (देखें तालिका)

वेतन अधिनियम के तहत सांसदों के मानदेय

क्र.सं.		01.06.1954 के अनुसार अथवा जबसे सुविधा लागू की गई	(रुपये में)
1.	**(ए) वेतन**	400 प्रतिमाह	12,000.00 प्रतिमाह
	(बी) निर्वाचन क्षेत्र भत्ता	--	10,000.00
	(सी) कार्यालय खर्च भत्ता	--	2,500.00
	(डी) डाक खर्च	--	1,500.00
	(इ) सचिवालयीन कामकाज हेतु निजी सहायक (प्रति माह)	--	10,000.00
2.	**यात्रा भत्ता ***		
	(ए) रेल मार्ग से	(ए) निर्धारित निवास स्थान से आने-जाने का यात्री किराया एक द्वितीय श्रेणी तथा एक तृतीय श्रेणी	(ए) प्रथम श्रेणी तथा तथा एक द्वितीय श्रेणी यात्री किराया
	(बी) हवाई भत्ता से	(बी) एक तथा हवाई	(बी) वहीं "

		किराए का एक-चौथाई मूल्य	
	(सी) सड़क मार्ग से	(सी) आठ आना प्रति मील। जहां रेल सुविधा है, सड़क मार्ग भत्ता रेल मार्ग भत्ते के समान	(सी) आठ रुपये प्रति किमी. यदि दिल्ली से रेल मार्ग द्वारा जुड़े हैं तो भी 300 किमी. के भीतर सड़क मार्ग भत्ते का दावा कर सकते हैं। दिल्ली से 300 किमी. के दायरे में स्थित सदस्य सड़क मार्ग भत्ते का दावा कर सकते हैं।
3.	**दैनिक भत्ता ***	21 रुपये प्रतिदिन सत्र के तीन दिन पहले से दो दिन बाद तक। तथा समितियों की बैठक के दो दिन पहले व दो दिन बाद तक।	इसी तरह परंतु दैनिक भत्ता 500 रुपये प्रतिदिन की दर से।
4.	**दूसरी सुविधा**		
	(ए) हवाई यात्रा	(ए) हर सत्र के दौरान एक हवाई यात्रा भारत में एक स्थान से दूसरे तक और वापसी एयर लाइंस/एयर इंडिया 21.08.1969 से लागू लिये केरी ओवर सुविधा	(ए) 32 एक हवाई यात्रा** एक साल में आठ ऐसी यात्रायें मिला के एक अकेले व्यक्ति के के साथ
	(बी) रेल पास (स्वयं)	(बी) एक मुफ्त अहस्तांतरणीय दूसरी श्रेणी पास (देश में कभी भी यात्रा के लिये)	(बी) स्वयं के लिये मुफ्त पति या पत्नी के साथ प्रथम श्रेणी एसी या एक्जिक्यूटिव श्रेणी में एक सहायक के साथ (दूसरी श्रेणी में)
	(सी) रेल पास पत्नी के लिये	(सी) पत्नी की यात्रा के लिये प्रथम श्रेणी में एक बार हर सत्र के दौरान (निवास से दिल्ली और वापसी 21.08.1969 से लागू)	(सी) अब प्रथम श्रेणी एसी में या एक्जिक्यूटिव श्रेणी में हर सत्र के दौरान एक बार निवास से दिल्ली और वापस
	(डी) टेलीफोन	(डी) (1) (क) साल में 1800 मुफ्त कॉल की सुविधा के साथ दिल्ली में कार्यालय या आवास पर एक नि:शुल्क टेलीफोन	(डी) (1) साल में 50 हजार मुफ्त कॉल की सुविधा के साथ दो नि:शुल्क फोन, एक दिल्ली तथा दूसरा स्थाई निवास स्थान पर

	(ख) स्थाई निवास स्थान पर भी एक निःशुल्क टेलीफोन की सुविधा (05.08.1964 से लागू)	(ख) --
	(2) --	(2) एक दिल्ली में स्थाई निवास स्थान पर इंटरनेट की कनेक्टिविटी के उद्देश्य से साल में 50 हजार मुफ्त कॉल की सुविधा के साथ।
	(3) --	(3) एक पूरे देश में रोमिंग सुविधा के साथ एक मोबाइल फोन बिना किसी पंजीकरण शुल्क या किराए के (1 से 3 के कुल) 1,50,000 रुपये के कॉल करते हुए
	(4) --	(4) जिन सांसदों का निर्वाचन क्षेत्र 1000 किलोमीटर या अधिक दूर है, उन्हें प्रत्येक टेलीफोन पर 10,000 अतिरिक्त
	(5) --	(5) यदि इन कॉल्स का उपयोग न हुआ तो इनकी सुविधा अपने निजी फोन पर भी प्राप्त की जा सकती है।
(ई) पानी और बिजली	(ई) पानी व बिजली की निःशुल्क सुविधा के लिए 300 रुपये प्रतिमाह का भत्ता वर्ष 1986 से शुरू किया गया।	(ई) पानी 4 हजार किलो लीटर प्रतिवर्ष बिजली व पावर मीटर पर 50 हजार यूनिट प्रतिवर्ष
(एफ) आवास	(एफ) पूरे कार्यकाल के दौरान मकान किराए में 25 प्रतिशत की कटौती, जिसमें फर्नीचर या अन्य शुल्क भी शामिल हैं।	(एफ) पूरे कार्यकाल के दौरान फ्लैट के रूप में मुफ्त आवास अथवा पात्रता होने पर नाम-मात्र के शुल्क पर बंगला। इसके अलावा फर्नीचर व अन्य शुल्कों में 25 प्रतिशत की कटौती।
(जी) चिकित्सा	(जी) नाममात्र के मासिक योगदान पर सीजीएचएस के सीसीएस प्रथम श्रेणी अधिकारियों के समान चिकित्सा सुविधाएं।	(जी) --

5. पूर्व सदस्यों की मिलने वाली सविधाएं

(ए) पेंशन	(ए) 09.09.1976 से शुरू आरंभ में एक पूर्व सदस्य को प्रतिमाह 500 रुपये की पेंशन 5 साल का कार्यकाल पूरा होने पर तथा प्रत्येक वर्ष पूरा होने पर 50 रुपये प्रतिमाह की वृद्धि	(ए) न्यूनतम 3000 रुपये प्रतिमाह पेंशन और 5 वर्ष बाद प्रत्येक वर्ष की समाप्ति पर 600 रुपये प्रतिमाह भी अतिरिक्त पेंशन
(बी) परिवार पेंशन	(बी) कार्यकाल के दौरान सांसद के देहांत पर उसके जीवनसाथी अथवा आश्रितों को प्रतिमाह 1000 रुपये की पेंशन, 20.08.1998 से लागू, 5 वर्ष के लिये की पेंशन प्रतिमाह के	(बी) कार्यकाल के दौरान देहांत होने पर सांसद के जीवनसाथी अथवा आश्रितों को 1500 रुपये प्रतिमाह लिए।
(सी) रेल	(सी) 18.01.1999 से पूर्व सांसद को एक सहयोगी के मद द्वितीय श्रेणी वातानुकूल में यात्रा की अनुमति करने पर प्रथम श्रेणी	(सी) सहयोगी के साथ होने पर द्वितीय श्रेणी वातानुकूल, अकेले यात्रा वातानुकूल/एक्जिक्यूटिव श्रेणी
(डी) चिकित्सा	(डी) अगर पूर्व सांसद किसी ऐसे शहर में रहते हों जहां सीजीएचएस की सुविधा है तो मामूली अंशदान के साथ चिकित्सा सुविधा	(डी)

*** सत्र/समितियों की बैठकों या किसी अन्य कामकाज में हिस्सा लेने के लिए।**
**** किसी भी विमानन सेवा से।**

स्रोत : संसद सदस्यों के वेतन, भत्ते व पेंशन अधिनियम 1954 और उसके तहत बने नियमों में अद्यतन संशोधन।

राज्य सरकारें भी चूंकि केन्द्र का ही प्रतिबिंब हैं अतः यदि राज्यों द्वारा वर्तमान व भूतपूर्व विधायकों के वेतन, भत्ते, पेंशन व अन्य सुविधाओं पर खर्च की जाने वाली राशि जोड़ें तो भारतीय लोकतंत्र की कीमत का आंकड़ा बहुत ही विराट होगा, सुरसा के मुंह से भी बड़ा, क्योंकि इस समय विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं तथा विधान परिषदों में सदस्यों की संख्या 5,269 है। इस तरह की फिजूलखर्ची लोकतंत्र के मूलभूत सिद्धांत के खिलाफ है, जो आम आदमी के लिए शांति, सुख समृद्धि और न्याय सुनिश्चित करने वाली प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने की बात करता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजशाही उस समय अलोकप्रियता तथा घृणा का केन्द्र बन गई थी, जब राजा द्वारा अपने अधिकारों का दुरूपयोग प्रजा के लिए असहनीय हो गया था। शासकों ने राजस्व आय का बड़ा भाग अपने ऐशो-आराम और भोग विलास के लिए खर्च करना शुरू कर दिया था जबकि लोगों की परेशानियां वहीं-की-वहीं थी।

साठ के दशक में भारत सरकार ने प्रिवि पर्स इस तर्क के साथ खत्म कर दिया था कि इसे जारी रखना औचित्यहीन है क्योंकि वर्तमान व्यवस्था में राजा/राजकुमार लोक कल्याण के किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते हैं। लेकिन आज सांसदों, पूर्व सांसदों, पूर्व प्रधानमंत्रियों व पूर्व राष्ट्रपतियों और पूर्व उपराष्ट्रपतियों को मिलने वाले भत्ते व सुख सुविधाएं भी इसी 'प्रिवि पर्स' का ही नया अवतार नजर आते हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पिछले वर्ष मंत्रिपरिषद व प्रधानमंत्री पर खर्च की गई धनराशि 122.52 करोड़ रुपये थी, जो लोकसभा के कुल खर्च का आधा और राज्य सभा पर खर्च होने वाली राशि से 30.39 करोड़ रुपये ज्यादा था। इस पर यदि एसपीजी (विशेष सुरक्षा समूह) पर होने वाले 79.46 करोड़ रुपये के खर्च को भी जोड़ा जाए तो यह लोकतंत्र हमारी मंत्रिपरिषद, संसद और राष्ट्रपति कार्यालय को बेहद खर्चीले लोक संस्थान बना देता है। (देखें तालिका)

उच्च पदस्थ लोगों पर होने वाला व्यय

क्र.सं.	नाम	2002-03	2004-04
		(करोड़ रुपये में)	
1.	राष्ट्रपति और सचिवालय	9.94	14.55
2.	उपराष्ट्रपति और सचिवालय	0.97	1.07
3.	लोकसभा-अध्यक्ष, उपाध्यक्ष लोकसभा-नेता सदन व प्रतिपक्ष मुख्य सचेतक, सदस्य, सचिवालय	222.78	244.90
4.	राज्य सभा-अध्यक्ष, उपाध्यक्ष	77.90	92.25
5.	मंत्रिपरिषद् और प्रधानमंत्री	74.33	122.52
6.	स्पेशल प्रोटेक्शन ग्रुप	60.09	77.46
7.	पूर्व-राष्ट्रपतियों की पेंशन	0.05	0.09
	दूसरे अधिकार	0.19	0.20
8.	पूर्व सांसदों की पेंशन	4.76	5.64
	कुल	**451.01**	**558.68**

** पूर्व सांसदों के रेल यात्रा खर्च सम्मिलित*

** पूर्व प्रधानमंत्री और उनके परिवारजनों की सुरक्षा सम्मिलित*

स्रोत : बजट पेपर-मंत्री-वित्त, गृह मामले (भाग-1), संसद, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति सचिवालय-अनुदानों की विस्तृत मांग (2004-05)

मैं राष्ट्रपति को इस विवाद में नहीं घसीटना चाहता। अत: उनके व्यक्तिगत वेतन व सुविधाओं पर कुछ नहीं कहूंगा परंतु मैं इस बात पर दु:खद आश्चर्य जरूर प्रकट करूंगा कि जब देश में एक ओर करोड़ों लोग बिना किसी छत के जीने को मजबूर हैं, ऐसे में राजप्रासादनुमा राष्ट्रपति भवन के रखरखाव पर इतना धन खर्च किया जाए। मैं इसमें कोई

औचित्य नहीं देखता कि रहने के लिए एक व्यक्ति या परिवार को 350 कमरों वाला घर दिया जाए।

उपरोक्त तथ्यों व स्थितियों ने लोगों के मन में संसद के प्रति सम्मान को कम करने में अपना योगदान दिया है। इस संदर्भ में इस बात पर भी जोर देना होगा कि संसद की व्यवस्था का निर्धारण करने वाले संविधान के अनुच्छेद 79 से 123, जिसमें संसद का विशेषाधिकार भी शामिल है, ऐसी किसी व्यवस्था की बात नहीं करते जो इसके नियंत्रण व संतुलन को भीतर की बजाए बाहर से संचालित कर सके। दु:ख है कि अभी यह काम होना बाकी है, अत: इस दिशा में पहला कदम उठाने की जरूरत है। इसमें सांसदों को केवल लाभ उठाने वाला बनाने से रोकने के लिए एक आम बहस शुरू करने की जरूरत है। साथ ही इनके वेतन व भत्तों के संबंध में पड़ताल करने की भी आवश्यकता है। ताकि लोगों की नजरों में संसद की खोई गरिमा व प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया जा सके।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि यदि इस तरह की दखलंदाजी पर रोक नहीं लगाई गई तो यह लोकतंत्र की चूलें हिला देगा और जनता के मन में इसके प्रति आस्था कम करेगा। अत: आप सभी बुद्धिजीवियों एवं विचारनायकों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि इस विषय पर गहराई से सोंचें और इस मुद्दे को उचित मंच पर उठाएं। ताकि इस संबंध में एक निश्चित परंपरा और संस्थानिक तंत्र स्थापित किया जा सके, जो वैधानिक हो।

परंतु निश्चय ही मैं अपनी बात को निराशा के बिंदु पर खत्म नहीं करना चाहता। दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा तैयार व लागू किए गए सामुदायिक व व्यक्तिगत प्रयासों से स्वावलंबन पर आधारित ग्रामीण विकास के चित्रकूट मॉडल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि समुचित संस्थनिक सहयोग दिया जाए तो हमारा ग्रामीण समुदाय अपनी आंतरिक समस्याओं से निजात पा सकता है। इतना ही नहीं यह निरंतर विकास के नए सोपान चढ़ सकता है और समकालीन बाजार तथा नवीन तकनीकों का सहारा लेकर स्वरोजगार के नए अवसरों को भी बढ़ावा दे सकता है।

अब समय आ गया है कि विकास की ऐसी नीति अपनाएं जिसमें जनसक्रियता सुनिश्चित हो। और लोकहित के कर्तव्यों को पूरा करने के लिए ऐसा शासन तंत्र हो जिसमें जिम्मेदारी का भाव समाहित हो। इससे हमें अपने लोगों की आंतरिक क्षमताओं तथा कुछ नया करने की उनकी ललक को बढ़ाने में मदद मिलेगी। इसी के द्वारा सामाजिक समानता एवं न्याय आधारित विकास प्राप्त किया जा सकता है। इससे लोकतंत्र पुष्ट हो सकेगा जिसके सहारे विकास के ऊंचे सोपान न्यूनतम खर्च में चढ़ना भी संभव होगा।

मेरा निवेदन है कि गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, बीमारियों व सामाजिक बुराईयों को जड़ से खत्म करने के लिए देश कौन सा विकास मॉडल अपनाएं, इस बारे में एक सार्थक आम बहस शुरू की जानी चाहिए। दीनदयाल शोध संस्थान ने एक ऐसा मॉडल विकसित किया है जिसमें आम लोगों की पहल और उनके पुरूषार्थ को बढ़ावा दिया जाता है। इसी भावना और उत्साह को लेकर यह संभव हुआ है कि आज चित्रकूट के आस-पास के 80 गांवों ने-

* **शून्य बेरोजगारी**
* **शून्य गरीबी**
* **शून्य कुपोषण**
* **शून्य मुकदमेबाजी**
* **और साफ-सुथरे व हरे-भरे गांवों**

के सपने को सच कर दिखाया है। वह भी निर्धारित समय सीमा से पूर्व।

उल्लेखनीय है कि दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा चलाई जाने वाली योजनाओं में गरीब परिवारों, चाहे वो किसी भी जाति या संप्रदाय से क्यों न हों, की सक्रिय भूमिका से उन्हें स्वावलंबी बनाने के प्रयासों में दुर्लभ पूरकता भी हासिल कर ली है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इन लक्ष्यों को संस्थान ने निर्धारित समय सीमा से पहले ही पूरा कर लिया। संस्थान अब इस दशक के अंत तक इन लक्ष्यों को 500 गांवों में प्राप्त करने की ओर अग्रसर है। और यह चमत्कार किसी सरकारी एजेंसी ने नहीं किया है। इलाके के लोगों ने दीनदयाल शोध संस्थान के निस्वार्थी व उत्साही कार्यकर्ताओं के निकट सहयोग से इस महती लक्ष्य को पूरा किया है। संस्थान तो केवल प्रेरणा देने का काम करता है। वास्तविक ऊर्जा व क्षमता तो लोगों के भीतर है।

पुरानी पीढ़ी के कई उद्योगपतियों को याद होगा कि सन् 1977 में सक्रिय राजनीति से सन्यास लेते समय मैंने उनसे सामुदायिक विकास के कार्यों में सक्रिय भागीदारी देने का आग्रह किया था। मेरा हमेशा से मानना रहा है कि देश के उद्योगपतियों में विलक्षण प्रबंधकीय प्रतिभा और क्षमताएं हैं। औद्योगिक घरानों की उत्तरोत्तर प्रगति में उनके ये गुण परिलक्षित भी होते हैं। लेकिन सामाजिक व सामुदायिक गतिविधियों में उनका इस्तेमाल नहीं हो रहा है। 1977 में मैंने जब फिक्की के तत्कालीन अध्यक्ष श्री हरिशंकर सिंघानिया से अपने संगठन के माध्यम से उद्योगपतियों को सामुदायिक विकास गतिविधियों के लिए प्रेरित और संगठित करने का निवेदन किया था। उसके परिणामस्वरूप कई उद्योगपति अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं व प्रयासों के साथ इसके लिए आगे भी आए थे। परंतु दुर्भाग्य से यह प्रयास एक सामूहिक गति नहीं प्राप्त कर पाया। मैं एक बार पुन: सभी औद्योगिक व व्यापारिक संगठनों का आह्वान करता हूं कि वे आगे आएं और विकास के इस महायज्ञ में योगदान देने के लिए अपने सदस्यों को प्रेरित करें।

शुभाकांक्षी -

(नाना देशमुख)

दिनांक: 16 मई, 2005

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

गत 24 दिसम्बर, 2004 के पत्र में मैंने लिखा था कि "संसद के दोनों सदनों के सांसद मिलकर स्वयं अपना वेतन, भत्ता तथा पेन्शन बढ़ा लेते हैं। जनप्रतिनिधियों द्वारा अपनाया गया यह तरीका न नैतिक है न ही प्रशासनिक नियमों के अनुकूल है।" सांसदों की इस स्वार्थसिद्धि को आम लोगों की नजर में ला देने के बाद लोकसभा स्पीकर माननीय सोमनाथ जी चॅटर्जी ने पहलकर सांसदों के वेतन तथा भत्ते बढ़ाने के लिए एक स्वतंत्र व्यवस्था खड़ी करने के लिए प्रयास प्रारंभ किए हैं। अत: मैं उनका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ।

किन्तु इतने भर से भारत के भविष्य-निर्माण का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा। अभी-अभी कुछ ही दिन पूर्व शहीद भगत सिंह का लोक सभा परिसर में स्मारक बनाने के लिए आयोजित सांसदों के सम्मेलन में महामहिम राष्ट्रपति महोदय ने विधायकों की खरीद-फरोख्त पर चिंता व्यक्त की है। इस खरीद-फरोख्त के घृणित आचरण से पार्टियों के बड़े से बड़े नेता स्वयं को अलिप्त नहीं कह सकते। सत्ता पाने या सत्ता में बने रहने के लिए चाहे जो किया जा रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है।

सन् 2020 तक देश को स्वावलंबी बनाने के राष्ट्रपति के सपने को राजनीतिक दलों के उपर्युक्त आचरण से नुकसान पहुंचने की संभावना से राष्ट्रपति को चिंता होने लगी है। अन्यथा वे विधायकों के खरीद-फरोख्त के विषय की खुले शब्दों में आलोचना नहीं करते।

स्वतंत्र भारत के नेतृत्व ने अपने गौरवपूर्ण अतीत से संबंध-विच्छेद कर लिया है। अपने देश के लिए, अपनी प्रतिभा से, अपने जीवन-मूल्यों पर आधारित संविधान निर्माण करने में अपनी स्वतंत्र बुद्धि काम में ही नहीं लाई गयी। सवा सौ साल से अधिक हमें गुलामी में जकड़े रखने वाले अंग्रेजों द्वारा प्रचलित संसदीय लोकतंत्र की द्वंद्वात्मक शासन प्रणाली हमने अपने लिए स्वीकार की। परिणामस्वरूप, स्वतंत्र भारत की राजनीति लोकतंत्र के विकास के स्थान पर व्यक्तिवाद की जननी बनी। आज हम देश में राजनीतिक दलों का चुना हुआ नेता देख नहीं पाते। हर नेता अपनी मर्जी से जब चाहे नया दल बना लेता है। अत: इसे लोकतंत्र की नहीं, सामंतशाही की तिरस्कृत दिशा कहा जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

नवस्वतंत्र भारत की राजसत्ता पर गांधी जी की कृपा से विराजमान नेतृत्व ने ऐसे लोगों को दरकिनार कर दिया, जिन्होंने कंधे से कंधा मिलाकर, सर्वस्व की बाजी लगाते हुए स्वातंत्र्य प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान किया था। नवस्वतंत्र भारत का भाग्योदय करने में उनकी प्रतिभाओं को नजरअंदाज किया गया। अपनी ही मनमानी की गई। आगे चलकर तो भ्रष्ट से भ्रष्ट राजनेताओं को केन्द्रीय मंत्रिमंडल में स्थान देकर सत्ता हस्तगत करने में भी संकोच नहीं किया। दूसरी ओर, अन्य दल बिकाऊ विधायकों के आधार पर बेहतर शासन देने की बातें करने में हिचकिचाते नहीं, जबकि उन्हें संयोगवश जहां बहुमत प्राप्त है, वहां भी उन्हें पार्टी में मची गुटबाजी पर काबू पाना मुश्किल हो रहा है। ऐसी हालत में शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार मिटाकर जनहितकारी कामों को कर पाना उनके लिए कैसे संभव है? यह है स्वतंत्रता के गत 57 साल से चलती आ रही राजनीतिक यात्रा की कहानी।

स्वतंत्र भारत के राजनेताओं ने सामाजिक जीवन की महत्ता को नहीं समझा। सत्ता पाने के लिए उन्होंने समाज को जिस तरह से चाहा, नोचा-खसोटा है। कुछ नेता कालबाह्य जातिगत भावनाओं को उभारकर समाज को क्षत-विक्षत कर रहे हैं, तो अन्य नेता क्षेत्रीय भावनाओं को भड़काकर सत्ता पाने के लिए देश की एकता को हानि पहुंचा रहे हैं। मजहब के आधार पर देश का विभाजन हुआ। इससे सबक लेकर देश के सभी नागरिकों में सह-अस्तित्व की भावना विकसित करने के स्थान पर सत्ता के लालच में नागरिकों में मजहब के आधार पर अलगाव बढ़ाने में ही लगे हुए हैं।

भारतीय जीवन-दृष्टि किसी को मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी के रूप में नहीं देखती, अपितु वह मानव को मानव मानकर व्यवहार करना सिखाती है। अन्यथा "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा को साकार करने वाली भारतीय संस्कृति अपने समाज में नहीं पनपती।

दुर्भाग्यवश, स्वतंत्रता प्राप्त होते ही सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक नेतागण भी अपना-अपना मूलभूत दायित्व छोड़कर राजनीति की ए-बी-सी-डी न समझते हुए भी सत्ता-संघर्ष में कूद पड़े हैं। फलस्वरूप, भारतीय जीवन की कर्त्तव्य-पालन की परंपरा जीवन से ओझल होकर, अधिकार-लालसा का व्यक्तिवादी जीवन समाज में गहराता जा रहा है।

वस्तुतः विश्व में कहीं भी अनुकरणीय लोकतंत्र का नमूना दिखाई नहीं देता। विकसित कहे जाने वाले पश्चिमी देशों का चरित्र लोकतांत्रिक विकास के अनुकूल है ही नहीं। दुनियाभर के अविकसित एवं पिछड़े देशों को लूटकर उन्होंने अपना वैभव खड़ा किया है। यूरोप के नागरिकों ने अमेरिका के विशाल भूखण्डों पर, वहां के मूल निवासियों का सफाया कर अपना अधिकार जमा लिया है। उनका लोकतंत्र चुनाव प्रक्रिया तक ही सीमित है। उन्हें लोकतंत्र के पूर्ण विकसित रूप की आवश्यकता अनुभव ही नहीं होती। कारण, उनमें मानवीयता की भावना अभी विकसित होना शेष है। वे अभी तक उपभोग के उपासक बने रहने की ही अवस्था में हैं। उपभोग और अधिकाधिक उपभोग करना ही

उनके जीवन का लक्ष्य है। उपभोगमय जीवन का स्तर ऊंचे से ऊंचा उठाने के लिए अन्य देशों का शोषण करने वाली उनकी प्रवृत्ति अभी भी कायम है। दुनियाभर का विरोध होते हुए भी अमेरिका द्वारा इराक पर हमला करना, उसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जिसकी नजर परायों की धन-संपदा पर कभी नहीं रही। प्रभु राम ने किष्किंधा के राजा बालि को मृत्युदण्ड दिया। किन्तु उसके राज्य पर उसी के भाई सुग्रीव को बिठाया। सोने की लंका पर विजय पाकर वहां का सिंहासन रावण के बंधु विभीषण को सौंपा।

भारत अपने प्राकृतिक संसाधनों के आधार पर वैभव के शिखर पर विराजमान हुआ था। वैभव के शिखर पर पहुंचकर भी वह ऐशो-आराम के मोह में नहीं फंसा। मानव मात्र के समुचित विकास के लिए प्रयत्नशील रहा। "सर्वेभवन्तु सुखिनः" की आकांक्षा उसी का निचोड़ है।

इस आकांक्षा को ध्यान में रखकर ही हमारे स्वातंत्र्य संग्राम के अग्रणियों ने बार-बार दोहराया था कि हमारा स्वातंत्र्य संग्राम केवल अपनी राजसत्ता वापिस लौटा लेने के लिए नहीं, अपितु विश्व भर में सह-अस्तित्व का स्नेहमय, सहयोगपूर्ण तथा प्रगतिशील जीवन का अनुकरणीय नमूना प्रस्तुत करने के लिए है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतंत्र भारत की दिशा क्या होनी चाहिए थी।

अपने परंपरागत चरित्र के अनुसार अपने लोकतंत्र का विकास करना हमारा दायित्व था। लोकतांत्रिक रचना के लिए चुनाव-प्रक्रिया अनिवार्य है। किन्तु चुनाव-प्रक्रिया स्वयं में लोकतंत्र नहीं है, लोकतंत्र के द्वार तक पहुंचाने वाली विधि मात्र है। लोकतंत्र तो चुनाव के बाद ही प्रारंभ होता है।

निर्वाचित जनप्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र के सभी नागरिकों के सक्रिय सहयोग से समाज की युगानुकूल नवरचना करें, यह अपेक्षित है। कारण, समाज ही शासन की मूलभूत शक्ति है। समाज सह-अस्तित्व से प्रेरित और सुसंगठित न रहा तो शासन सुशासन कदापि नहीं बन सकता। यह तथ्य नजर से ओझल हुआ तो लोकतंत्र की सफलता असंभव है।

भारत स्वतंत्र हुआ। सन् 1952 में स्वीकृत संविधान के अनुसार चुनाव हुए। नवस्वतंत्र भारत की पहली सरकार बनी। इस सरकार का प्राथमिक दायित्व था - स्वतंत्रता को स्वाधीनता में परिणत करना। यह स्वाधीनता जनप्रतिनिधियों द्वारा गठित मंत्रिमंडल तक ही सीमित रहनी नहीं चाहिए थी। अपितु देश की प्रत्येक आबादी स्वाधीन बनाने की दिशा में गतिशील होनी चाहिए थी। तभी हम अपने देश में लोकतंत्र का शुभारंभ मान सकते थे।

जब तक देश के छः लाख गांव स्वावलंबी और स्वाभिमानी नहीं बनते, तब तक स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं होता। स्वतंत्रता के 57 वर्ष बीतने के बाद भी न देश के गांव स्वाधीन बन पाए हैं, न देश ही सर्वथा स्वाधीन हो पाया है। इस दुरावस्था के कारण देश का कोई नेता चिंतित होता हुआ दिखाई नहीं देता।

नेता कहलाने वाले महानुभाव प्रभावी वक्ता हो सकते हैं। तर्कयुक्त बहस करने में भी निपुण बन सकते हैं। संसद में बहस करने में निष्णात सिद्ध होकर पुरस्कार भी पा सकते

हैं। किन्तु क्या उनकी ये योग्यताएं भारत के दुर्दशाग्रस्त गांवों को स्वावलंबी बनाने में काम आ रही हैं?

अपने देश की राजधानी नई दिल्ली मानव जीवन की सभी सुविधाओं से सम्पन्न नगरी है। चौड़ी-चौड़ी और साफ-सुथरी सड़कों का जाल नगरभर में फैला है। परिवहन की सुविधा के लिए अनेक फ्लाईओवर बने हैं और बनते जा रहे हैं। अब तो आधुनिक मैट्रो रेल नागरिकों के आकर्षण का केन्द्र बनी है। ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं दिल्ली की शान बढ़ा रही हैं। जगह-जगह हरे-भरे लॉन और रंग-बिरंगे फूलों के उद्यान दिल्ली को मनोहारी बना रहे हैं। दुनिया के विकसित राष्ट्रों की राजधानियों से हमारे देश की राजधानी खूबसूरती में प्रतिस्पर्धा कर रही है।

किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि मंदिर का निर्माण कलश से प्रारंभ होता है या नींव से? भारत के छः लाख गांव देश की नींव के प्रतीक हैं। गत 57 वर्ष की स्वतंत्रता के बाद भी इन गांवों की दशा दयनीय बनी हुई है। यदि हमारे गांवों की यही दशा बनी रही तो कलश रूपी राजधानी नई दिल्ली का भविष्य क्या होगा?

ग्रामीण अंचल के निवासी अन्नदाता कहे जाने वाले किसान भुखमरी के शिकार बन रहे हैं। अभाव की असह्य पीड़ा के कारण वे आत्महत्या कर लेने के लिए विवश हैं। देश के करोड़ों बेकारों व गरीबों की मानसिकता पर उपर्युक्त दयनीय दशा का क्या असर हो रहा है? देश में निरंतर बढ़ रही लूट-खसोट, खून-खराबा और डकैतियां किस ओर इशारा कर रही हैं?

स्वतंत्रता पाकर सालों तक उपेक्षा सहकर और अब अराजकता की मार के कारण देश के नागरिक भविष्य-निर्माण के लिए नौजवानों की ओर आशाभरी नजरों से देख रहे हैं। भारत की नई पीढ़ी देश के सामान्यजनों को निराश होने नहीं देगी, इस विश्वास में -

शुभाकांक्षी -

(नाना देशमुख)

दिनांक : 21 जून, 2005

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

चारों ओर स्वार्थसिद्धि के गहराते वातावरण में भी हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। देश की हतोत्साहित इस अवस्था में भी हमारे वैज्ञानिक स्वप्रेरणा से, उपलब्ध साधनों के सहारे, राष्ट्रीय सुरक्षा को सबल बनाने में जुटे हैं। वे ऐसी खोज करने में सफल सिद्ध हुए हैं, जिससे देश की सुरक्षा अधिक सुदृढ़ हुई है।

हमारी सेना ने उपर्युक्त वातावरण में भी देश पर हुए आक्रमणों में अदम्य साहस, अडिग आत्मविश्वास, अद्वितीय पराक्रम एवं अनोखे रणकौशल से शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय पताका फहराई है। कारगिल में अचानक और महाघातक आक्रमण को जिस धैर्य, साहस, पराक्रम और रणकौशल से परास्त किया, वह शौर्य का बेजोड़ नमूना है। सन् 1962 में चीन का आक्रमण हुआ था, उसमें हमारी सेना की विफलता नहीं, देश के नेतृत्व की गफलत हमें धोखा दे गई। बांग्लादेश की आजादी के संघर्ष में शत्रु के 93,000 सैनिकों को बंदी बनाना, हमारी सेना का अद्भुत करिश्मा था।

किन्तु स्वतंत्र होने के बावजूद हमने कुटिल अंग्रेजों के पिछलग्गू बन तत्वदर्शी भारत को उपभोगवाद का शिकार बना दिया। "कौन बनेगा करोड़पति" का लक्ष्य देश की नई पीढ़ी के सामने रखा। उन्हें मानवीयता से वंचित किया। देशभक्ति की भावना जीवन से मिटा दी गई।

परिणामस्वरूप, देश की स्थल-सेना, नौ-सेना तथा वायु-सेना में लगभग 14,000 युवा अफसरों के स्थान रिक्त पड़े हैं। अनेक आकर्षण प्रस्तुत करने के बाद भी तीन-चार पीढ़ियों से सेना में योगदान देने वाले परिवारों के नवयुवक भी अब सेना में शरीक होना नहीं चाहते। वे अधिकतम धन पाने के पीछे पड़े हैं। यही स्थिति वैज्ञानिक क्षेत्र की भी बनी है। देशभक्ति की प्रेरणा प्रदान करने वाला व्यक्तित्व खोजने पर भी मिलना मुश्किल हो गया है।

यदि युवा-पीढ़ी ने इस धनलोलुप-वृत्ति की दासता का निवारण करने की दिशा में कदम नहीं बढ़ाया तो देश का भविष्य बनना केसे संभव होगा? लाभप्रद पदों के मोह जाल के वशीभूत नेतागण अपनी-अपनी पार्टी में मची गुटबाजी घटा नहीं सकते, वे नई पीढ़ी में देशभक्ति की उमंग कैसे जगा पाएंगे?

प्रचलित राजनीति देश को गुमराह कर रही है। उसके पचड़े में पड़ना उचित नहीं है। राजनीति को ठीक राह पर लाने का काम समाज का है। कारण, समाज ही राष्ट्र की

मूलभूत शक्ति है। समाज के द्वारा सरकारों का निर्माण होता है। सरकारें, समाज नहीं बनाया करतीं। देश के वर्तमान नेताओं ने इस तथ्य को विस्मृत कर रखा है।

पचास साल बाद देश का शिखर नेतृत्व अब अनुभव करने लगा है कि प्रशिक्षित अफसरों का मार्गदर्शन अप्रशिक्षित नेता नहीं कर सकते। अत: नेताओं का प्रशिक्षण आवश्यक है। इस मामूली बात को समझने के लिए उन्हें पचास साल लग गए।

वस्तुत: स्वतंत्र भारत के नेतागण अंधी-गली में पहुंच गए हैं। उन्हें देश के भविष्य का मार्ग सूझ नहीं रहा है।

संसार के विकसित कहे जाने वाले देशों का दिखाई देने वाला विकास टिकाऊ नहीं है। शहरों में केन्द्रित उनकी अर्थव्यवस्था उनके लिए मुसीबत बन रही है। प्राकृतिक संसाधनों की खदान ग्रामीण अंचल में काम करने के लिए उन्हें अब लोगों का मिलना असंभव हो रहा है।

प्रगति की उपर्युक्त गलत दिशा बदलने के लिए अपनी युवा-पीढ़ी को ग्रामीण क्षेत्र में कार्यरत होना होगा। मैं अपने गत 28 सालों के अनुभवों के आधार पर कह सकता हूँ कि ग्रामीण क्षेत्र के निवासी आज भी मानवीयता से जुड़े हुए हैं। वे दूसरों की पीड़ा से व्यथित होकर उनकी सहायता के लिए आगे आते हैं। अत: धनलोलुपता की वृत्ति के स्थान पर देशभक्ति की भावना, ग्रामवासियों में प्रचलित करना अधिक सुगम है।

देश की समृद्धि का मूलभूत आधार ग्रामीण अंचल ही है। मानव जीवन की सभी आवश्यकताएं प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करती हैं। प्राकृतिक संसाधन केवल ग्रामीण अंचल में ही उपलब्ध होते हैं - शहरों में नहीं।

शहरी आबादी हो या ग्रामीण, सभी मानवों के लिए उदर-भरण की व्यवस्था अनिवार्य है। उदर-भरण के सभी पदार्थ कृषि उत्पादन से प्राप्त होते हैं और कृषि उत्पादन केवल ग्रामीण अंचल में ही संभव है।

मानव सृजनशील (क्रियेटिव) प्राणी है। वह अन्य प्राणियों के समान प्राकृतिक अवस्था में अपना जीवन नहीं बिताता। वह रहने के लिए सुविधाजनक आवास बना लेता है। जाड़े और गर्मी में अनुकूल वस्त्र धारण करता है। अनाज पकाकर खाता है। भोजन पकाने के लिए विविध उपकरणों का निर्माण करता है। आवागमन के एक से एक बढ़िया साधन निर्माण करता है। इन सब वस्तुओं के निर्माण का आधार होता है - वनजन्य पदार्थ तथा भूगर्भजन्य पदार्थ। वे भी ग्रामीण अंचल से ही प्राप्त होते हैं।

मानव ने अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए पशु-पालन को भी अपनाया है। पशु-पालन का कार्य विशाल पैमाने पर ग्रामीण अंचल में ही संभव है। पशु-खाद्य भी ग्रामीण अंचल से ही उपलब्ध होते हैं। इसका अर्थ है कि देश और समाज की समृद्धि का मूल स्रोत ग्रामीण अंचल ही है। अत: समाज के स्थाई अस्तित्व एवं उज्ज्वल भविष्य के लिए ग्रामीण विकास को ही आधार बनाना अपरिहार्य है। दुर्भाग्य से, स्वतंत्र भारत में इस मूलभूत स्रोत की सर्वाधिक उपेक्षा की गई है।

जब हम गुलामी में जकड़े हुए थे, पश्चिमी देशों में आधुनिक औद्योगिक क्रांति हुई थी। फलस्वरूप, उन देशों में विशालकाय कारखाने अस्तित्व में आए थे। बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा था। उसे बेचने के लिए उन्हें बड़े बाजारों की आवश्यकता थी। भारत जैसा विशाल देश भी उन्हीं के शासन के अधीन था। भारत में कृषि कार्य के साथ-साथ गांव-गांव में समान स्तर पर सब प्रकार के कुटीर उद्योगों का जाल फैला हुआ था। सभी लोगों की आवश्यकताएं स्थानीय आधार पर ही पूरी होती थी।

साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए हमें गुमराह किया। उन्होंने चालाकी से प्रचारित किया कि भारत तो कृषि प्रधान देश है। उसे उसी में जुटा रहना चाहिए। भारत में फैले देशव्यापी कुटीर उद्योगों का उन्होंने सफाया कर डाला और अपने उत्पादन को बेचने के लिए भारत को विशाल मंडी के रूप में परिणत कर दिया। दुर्भाग्य से हमारा नेतृत्व अंग्रेजों के इस दुष्प्रचार का शिकार बना। अभी भी हम इसी भ्रम में हैं कि भारत केवल कृषि प्रधान देश है।

हमें समझना चाहिए कि वही देश सब दृष्टियों से स्वावलंबी अर्थात् स्वाधीन बन सकता है, जो कृषि एवं औद्योगिक विकास समान रूप से कर पाता है। अपने देश में सब प्रकार के प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं। फलस्वरूप, हमारा देश दोनों प्रकार का विकास समान स्तर पर पहले भी कर चुका था और अब भी कर सकता है। ऐसा सौभाग्य विश्व में कम ही देशों को प्राप्त है।

पश्चिमी देशों के विकास की दिशा मानवीयता रहित है। वह मानव जाति के सह-अस्तित्व के प्रतिकूल है। वे देश मानव मात्र के सुखमय जीवन का विचार ही नहीं करते। स्वयं का जीवन अधिकाधिक सुखमय बनाने के लिए अन्य देशों का शोषण करना उनका परंपरागत स्वभाव है।

अधिकाधिक समृद्धि के लिए वे संपूर्ण विश्व को अपने उत्पादन का बाजार बनाना चाहते हैं। वे एक से एक विध्वंसकारी हथियार बनाकर नवस्वतंत्र देशों को बेचकर धन कमा रहे हैं। इसका अर्थ क्या है? वे विश्व-शांति के उपासक नहीं हैं। ये विकसित कहे जाने वाले देश विश्वभर में अपने वर्चस्व का विस्तार करने में लगे हुए हैं।

वे समझ नहीं पा रहे हैं कि उनकी प्रगति की दिशा अंततोगत्वा उनके लिए भी आत्मघाती सिद्ध होगी। उनकी औद्योगिक प्रगति आज उनकी समृद्धि का आधार दिखाई देती हैं। वे उत्पादन के लिए एक से एक बढ़कर स्वचालित यंत्रों का आविष्कार कर रहे हैं। कम से कम हाथों द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन करने की दिशा में वे बढ़ रहे हैं। मानव श्रम के स्थान पर उन्होंने यंत्र-मानवों का उपयोग करना श्रेयस्कर माना है। परिणामस्वरूप, इन विकसित कहे जाने वाले देशों में अब बेकारी की समस्या सिर उठा रही है। उनकी अपनी उत्पादन विधि, बेकारी की समस्या को बेकाबू बनाने वाली है। इस आशंका से वे अन्य ग्रहों पर आबादी बसाने की संभावनाएं खोज रहे हैं। पूंजीप्रधान प्रथा की समृद्धि की भूख इतनी अधिक होती है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। फलस्वरूप, वह सामाजिक जीवन के विनाश का कारण बनती है।

उपर्युक्त पूंजीपति प्रथा के विकल्प के रूप में 1917 में रूस में साम्यवादी क्रांति हुई थी। उस क्रांति ने श्रमिकों की तानाशाही प्रस्थापित करने का लक्ष्य बनाया था। कुछ सालों तक उसका विश्वभर में बोलबाला होता रहा। उसने वर्ग-संघर्ष के नाम पर मानव-मानव में शत्रुता को जन्म दिया। मानव जाति के सह-अस्तित्व के मूल सिद्धांत के प्रतिकूल कोई व्यवस्था अधिक समय तक टिक नहीं सकती, यह भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अनुभवसिद्ध निष्कर्ष है। अतः इने-गिने सालों में ही यह साम्यवादी विकल्प बेकार सिद्ध हुआ है।

स्वतंत्र भारत में उपर्युक्त दोनों मानवीयता रहित व्यवस्थाओं को मिलाकर मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया गया। उससे राहत मिलने वाली नहीं थी। अब उदारवादी अर्थव्यवस्था का आलाप छेड़ा गया है। वह समाज में विषमता की खाई और अधिक चौड़ी कर रहा है, जो सह-अस्तित्व के सिद्धांत के विपरीत है। अतः इसकी विफलता भी अटल है।

जो व्यवस्था समाज में सह-अस्तित्व के अनुकूल नहीं होगी, वह असंख्य समस्याओं की जननी बनेगी। जो देश आज आर्थिक समृद्धि के शिखर पर आरूढ़ दिखाई दे रहे हैं, वे इस तथ्य को नजरअंदाज कर रहे हैं।

सौभाग्य से, भारत के युवाओं को अपने देश के साथ-साथ अविकसित एवं विकासमान देशों के लिये प्रगति का दोषमुक्त नमूना प्रस्तुत करने का सुअवसर उपलब्ध है। ग्रामीण अंचल किसी भी देश के समुचित उन्नति का मूलभूत स्रोत है। उसी को प्रगति की सुदृढ़ नींव मानकर स्वाभिमानपूर्ण व स्वावलंबी जीवन खड़ा किया जा सकता है। वर्तमान काल में उसका अनुकरणीय नमूना विश्व में कहीं भी उपलब्ध नहीं है, न उस ओर किसी का ध्यान ही है।

भारत का युवा-वर्ग इस अभाव को दूर कर केवल अपना ही जीवन सार्थक नहीं बनाएगा, अपितु मानव-मात्र के लिए प्रगति का आदर्श मार्ग प्रशस्त करेगा।

शुभाकांक्षी -

(नाना देशमुख)

दिनांक : 28 जुलाई, 2005

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

गुलामी के पूर्व हमारी न्याय व्यवस्था बहुत सरल, तत्काल निर्णायक एवं संतोषप्रद हुआ करती थी। वह "पंचमुखी परमेश्वर" के नाम से जानी जाती थी। फलस्वरूप, ग्रामीण जीवन सद्भावनापूर्ण, सहयोगात्मक और सामंजस्यपूर्ण था।

मुस्लिम हुकूमतों के काल में शासकों ने शहरों एवं कस्बों में न्याय-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य किए थे। किन्तु ग्रामीण न्याय-व्यवस्था पूर्ववत् चलती रही।

सन् 1765 के बक्सर युद्ध में प्राप्त विजय के बाद अंग्रेजों ने अपनी शासन प्रणाली लागू करना प्रारंभ किया। राजस्व वसूली तथा न्याय-व्यवस्था पर अपना शिकंजा जमाना शुरू किया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा को मिलाकर विशाल भू-भाग को जिलों की इकाईयों में बांटा गया। हर जिले के लिए अंग्रेज कलेक्टर नियुक्त किए गए। वे राजस्व वसूली के साथ जिला मजिस्ट्रेट का भी काम करने लगे। आगे चलकर दीवानी और फौजदारी अदालतों की जिला स्तर पर स्थापनाएं हुई। सभी कचहरियों में अंग्रेजी भाषा प्रचलित की गई। वकीलों की आवश्यकता जरूरी हुई। 1828 से लार्ड विलियम बेंटिंग के जमाने से वकीलों का व्यवसाय नियमित रूप से चल पड़ा। वही सिलसिला अबाधित गति से आज भी चल रहा है। अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व स्वतंत्र भारत में भी बना हुआ है।

सुदैव से मेरा जन्म छोटे से ग्राम में हुआ और मेरा जीवन-कार्य भी ग्रामीण अंचल ही बना हुआ है। फलस्वरूप, मेरा जिला कचहरियों में जाना-आना होता रहा है।

जिला कचहरियों में 95 प्रतिशत से भी अधिक भीड़ ग्रामवासियों की ही रहती है। वे अपना-अपना मुकदमा लेकर वकीलों को घेरे रहते हैं।

वकील वर्ग सुशिक्षित, कानूनों का जानकार, वाद-विवाद में पटु तथा नेतृत्व में अग्रणी है। महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि अनेक वकीलों ने स्वातंत्र्य संग्राम का नेतृत्व किया था। आजादी पाने के बाद भी यह वर्ग राजनीति में प्रमुखता प्राप्त किए हुए है।

ग्रामवासी आपस में मुकदमेबाजी के द्वारा स्वयं को बर्बाद कर रहे हैं, यह देखते हुए भी वकील वर्ग उन्हें समझाता नहीं कि वे इस मुकदमेबाजी की बर्बादी से स्वयं को बचा लें। अपितु उनकी मुकदमेबाजी में ही वह अधिक रूचि रखता है। कारण, वही उसने आजीविका का साधन बना रखा है। ग्रामीणों की दयनीय दशा जानते हुए भी वह उनसे अधिक मेहनताना वसूलने में लगा रहता है। ग्रामवासी कर्जदार होते हुए भी हजारों वकीलों के सुखमय जीवन का बोझ ढोते आ रहे हैं। यह वकील वर्ग 1828 से गरीब ग्रामीण आबादी का सतत् शोषण करता आ रहा है। इस गंभीर समस्या की ओर हमारे नेतृत्व ने अपनी आँखें मूंद रखी हैं। यदि यही स्थिति बनी रही तो सरकारों द्वारा बनाई गई ग्रामविकास की योजनाएं क्या कभी देश की सत्तर प्रतिशत से अधिक ग्रामीण आबादी को खुशहाल बना पाएंगी?

देश की लगभग तीन-चौथाई आबादी की परवाह न करने वाली राजनीति में बने रहना मुझे असह्य हुआ और मैं ग्रामोदय की दिशा में चल पड़ा। ग्रामविकास के काम की मुझे जानकारी नहीं थी। उस दिशा में मैंने कभी काम किया ही नहीं था। अत: ग्रामवासियों के बीच रहकर उनकी समस्याएं समझना तथा आवश्यकताओं को पूर्ण करना जरूरी था। अत: मैंने अपनी गतिविधियों का केन्द्र ग्रामों को बनाया।

गांव-गांव घूमकर मैं ग्रामवासियों से विचार-विनिमय करने लगा। गांवों में कृषि ही प्रमुख व्यवसाय है। ग्रामवासी दिन में अपने-अपने खेतों में काम करने जाते हैं। उनसे विचार-विनिमय करने का समय रात में ही संभव होता है। अत: मुझे ज्यादातर रातें गांवों में ही बितानी पड़ती थी।

एक दिन एक वृद्ध ग्रामवासी ने मुझसे कहा, ''आप बेकार परेशान हो रहे हैं। आप समझ नहीं पाते कि जिन्हें भगवान ने ही कंगाल बनाया है, उन्हें क्या इंसान खुशहाल बना सकता है? आप इस काम में मत पड़िए।'' ग्रामवासियों को अपने भाग्य को कोसते हुए निराशाग्रस्त होकर बैठे देख मैं बहुत दु:खी हुआ किन्तु हताश नहीं। मैं ग्रामोदय के मार्ग की खोज में लगा रहा।

मई का महीना था। चारों ओर सूखे का माहौल था। गोण्डा से लगभग 17 कि.मी. पर मुझे एक हरी-भरी बगिया नजर आई। मैं उसमें पहुंचा। वह एक माली की बगिया थी। वह माली अपनी लगभग एक एकड़ जमीन से सालभर में विभिन्न प्रकार की सब्जियों की अनेक फसलें उगाता था। अपनी ताजी सब्जियां गोण्डे की सब्जी मंडी में रोज बेचता था। अपनी कमाई में से उसने गोण्डा सब्जी मंडी में एक छोटा-सा मकान बनाकर किराए पर चढ़ाया था। वह खुशहाली की जिंदगी बिता रहा था। उसकी जीवन-गाथा ने मुझे बहुत उत्साहित किया।

दूसरे दिन मैं उस गांव पहुंचा, जहां के बूढ़े किसान ने मुझे बेकार परेशानी से बचने के लिए कहा था। मैंने उस बूढ़े किसान से कहा, ''बाबा! मैं कल एक अचरज देखकर आया हूँ। एक एकड़ भूस्वामित्व वाला बनारसी प्रसाद खुशहाली की जिंदगी जी रहा है।'' संयोगवश वह बूढ़ा बनारसी प्रसाद से पुराना परिचित था। उस बूढ़े ने मुझसे कहा, ''नाना जी! आप शहरी लोग हम ग्रामीणों की हालत समझ नहीं पाते। उस माली के पिता ने अपनी ससुराल से पक्के कुंए सहित वह जमीन पाई थी। वह माली सिंचाई की सुविधा पाकर खुशहाल हो गया है। यदि हमें भी सिंचाई के साधन मिलें तो हम भी उसी प्रकार से खुशहाली की जिंदगी पा सकते हैं।'' उस बूढ़े किसान ने दीनदयाल शोध संस्थान को 'ग्रामोदय' का मार्ग दिखाया। गरीब किसानों के लिए सिंचाई के साधन खोजने में शोध संस्थान जुट गया।

गोण्डा जिले में हिमालय से निकली बारहों माह बहने वाली नदियां हैं। वह जिला पानी पर तैरता है। जिले में पचास हजार ट्यूबवैल्स लगाने पर भी भूगर्भ जलस्तर घटेगा नहीं। इसकी जानकारी पाकर दीनदयाल शोध संस्थान ने पांच एकड़ या उससे छोटे जोत वाले बीस हजार किसानों के खेतों में ट्यूबवैल्स लगाने का संकल्प लिया।

जनता पार्टी की सरकार थी। बैंकों से गरीब किसानों को सात हजार रूपयों तक कर्ज पाने की मंजूरी प्राप्त कराई गई। दो साल में सत्ताईस हजार पांच सौ सोलह नलकूप लग

गए। जमीन में हजार फुट तक पत्थर का नामोनिशान नहीं है। 98 प्रतिशत से अधिक किसानों ने बैंकों का कर्ज वापस कर दिया।

किन्तु चित्रकूट इलाके की परिस्थिति एकदम भिन्न है। इसका अधिकांश इलाका विंध्याचल पहाड़ियों से घिरा है। वर्षा का पानी बह जाता है। अनेक गांवों में पीने का पानी भी उपलब्ध नहीं होता।

गांव के सभी ग्रामवासी सामूहिक प्रयास करें, तभी बरसात का पानी रोककर साल भर के लिए पानी का संचय किया जा सकता है। लेकिन गांवों में मुकदमेबाजी और पार्टीबाजी के कारण सामूहिक प्रयास संभव नहीं होते।

सरकार के द्वारा चलाई गई ''राजीव गांधी जलप्रबंधन योजना'' जैसी उपयोगी स्कीमस् व्यवहारिक धरातल पर साकार नहीं होती। कारण, राजनेता और नौकरशाही इस स्कीम को सफल बनाने में तनिक भी रूचि नहीं रखती। दीनदयाल शोध संस्थान ने चित्रकूट इलाके में इस योजना का सदुपयोग करने का निश्चय किया। गांव-गांव में ग्रामवासियों की बैठकें की, उन्हें यह योजना समझाई। ग्रामवासियों को मिलकर काम करने के लिए राजी किया। प्रयोग सफल हुए। परिणामस्वरूप, ऐसे गांवों में जहां पीने का पानी भी उपलब्ध नहीं था, वहां भी सबके खेतों की सिंचाई संभव हुई। निराशाग्रस्त किसानों के जीवन में सिंचाई के प्रबंध के कारण खुशहाली के दिन दिखाई देने लगे। वर्षा के भरोसे जहां एक फसल भी ठीक से उगाना अनिश्चित था, वहां सिंचाई के प्रबंध के कारण सभी किसान आराम से साल में दो फसलें उगाने लगे हैं। सभी ग्रामवासियों द्वारा मिलकर काम करने का लाभ ग्रामवासियों को दिखाई देने लगा है।

हर गांव के ग्रामवासियों के मुकदमें कचहरियों में चल रहे थे। आपसी अनबन से सबका मिलकर काम करना कठिन था। दीनदयाल शोध संस्थान के ''समाजशिल्पी दम्पतियों'' ने गांव के बुजुर्गों द्वारा ग्रामवासियों को समझाया कि मुकदमों में लगे रहने से जनजीवन में तरक्की संभव नहीं है। अत: आपस में मिल बैठकर हम आपसी विवादों को सुलझा लें। एक बार जब सभी विवाद सुलझा लिए जाएंगें, तब उन सिंचाई परियोजनाओं पर मिलकर काम करना संभव होगा, जिनसे सभी ग्रामवासियों को लाभ होगा।

गांव के लोगों को बुजुर्गों की सलाह जंच गई। गांवों में होड़ लग गई कि हम अपने गांव को विवादमुक्त बनाएंगे। परिणामस्वरूप, अभी तक चित्रकूट के चारों ओर के 80 गांव विवादमुक्त हुए हैं। गांव के लोगों ने सर्वसम्मति से तय किया है कि हम अपना विवाद लेकर अब कचहरी में नहीं जाएंगे, आपस में ही मिल बैठकर सुलझा लेंगे। गांवों में फैली मुकदमेबाजी की सालों से चली आ रही महामारी से मुक्ति पाने का मार्ग सुलभ हो गया है। सन् 2010 तक चित्रकूट के चारों ओर के 500 गांव इसी रूप में विकसित होंगे।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

दिनांक : 24 अगस्त, 2005

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

साधारण से लेकिन शिक्षित कार्यकर्ताओं (युवक-युवतियों) ने स्थानीय ग्रामवासियों से स्वावलंबन के आधार पर सामूहिक प्रयासों द्वारा ग्रामों के चतुर्दिक विकास का कार्य कर दिखाया है। चित्रकूट क्षेत्र के अतिपिछड़े और उपेक्षित गांवों के निवासी खुशहाली के दिन देखने लगे हैं। इस अनुभव से स्पष्ट है कि अगर स्वतंत्रता पाते ही युवाओं को छह लाख गांवों के विकास के लिए प्रेरित किया जाता तो आज हमारे दुर्दशाग्रस्त गांव देश के भविष्य-निर्माण में आधार-स्तंभ के रूप में काम आते। इस मूलभूत कार्य की सर्वथा उपेक्षा की गई है।

परिणामस्वरूप -

(1) देश के करोड़ों नागरिकों को दरिद्रता की असह्य यातनाएं सहनी पड़ रही हैं। असंख्य युवजन बेकारी के कारण दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। उनमें से अनेक अपराध जगत में शामिल होने के लिए मजबूर हैं। देश की यह मूलत: सकारात्मक युवा-शक्ति दिशाहीन बनी है।

(2) राजनेताओं का ग्रामों से संबंध टूट गया है। कांग्रेस जैसा ऐतिहासिक और देशव्यापी दल भी अपना अखिल भारतीय अस्तित्व खो बैठा है।

(3) जातीय, मजहबी एवं क्षेत्रीय भावनाओं को भड़काकर राजनीतिक दल अधिक बलशाली बन रहे हैं। ऐसे संकुचित मानसिकता वाले दलों के सहयोग के बिना राष्ट्रीय सरकार का गठन असंभव हुआ है। इस कारण, मिली-जुली केन्द्रीय सरकारें राष्ट्रीय हित में काम करने में असमर्थ हुई हैं। यह अवस्था देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बांटने की संभावना बढ़ा रही है। इस खतरनाक अवस्था से देश को बचाने का प्रयास करने के बजाए चोटी के नेता अपना व्यक्तिगत वर्चस्व प्रस्थापित करने के लिए आपस में ही लड़ रहे हैं। यह देखकर केवल आम लोग ही नहीं इन नेताओं के अनुयायी भी निराश हो रहे हैं।

अपना देश और समाज बहुत पुराना है। अनेक बार वह अधोगति का शिकार बना था। ऐसी अवस्था में नई पीढ़ी ने ही उसे उन्नति की राह पर ला खड़ा किया था। आज फिर से नई-पीढ़ी को ही वह दायित्व निभाना होगा।

स्वतंत्र भारत में अपनाई गई शिक्षा-पद्धति नई-पीढ़ी को देशभक्ति और समाज-निष्ठा से पूर्णत: वंचित कर रही है। सुशिक्षित कहलाने वाले परिवारों में भी जन्म पाने वाली

संतान सामाजिक दायित्व की प्रेरणा नहीं पाती। सभी प्रकार के उच्चस्तरीय लोगों की जीवन-शैली से स्वार्थसिद्धि के ही पाठ पढ़ने को मिल रहे हैं। अत: नवशिक्षित वर्ग देश और समाज की उन्नति का विचार तक नहीं करता।

वर्तमान नेतृत्व नहीं, बढ़ रही दुर्दशा ही नई पीढ़ी को अपना दायित्व समझाने का काम कर रही है। जनजीवन की विपदा देखकर और बेकारी की निरंतर बढ़ रही विभीषिका से त्रस्त होकर युवा-वर्ग बहुत बेचैन है। वह नई राह की खोज में हैं। संपर्क करने पर उसे दीनदयाल शोध संस्थान के कार्य की दिशा पसंद आ रही है। वह समझने लगा है कि ग्रामीण विकास के बिना आम लोगों का जीवन सुधर नहीं सकता। फलस्वरूप, नवविवाहित होकर भी पति-पत्नी के उच्च शिक्षा प्राप्त जोड़े ग्रामीण अंचल में काम करने के लिए राजी हो रहे हैं।

भारत की चिरजीवी एवं गतिशील सभ्यता तथा संस्कृति ग्रामीण अंचल में ही विकसित हुई है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' (Globalization) की अवधारणा वहीं प्रस्फुटित हुई थी।

अनंत काल से चली आ रही अपनी अखण्ड परंपरा बहुत समृद्धिशाली है। उसमें से अनेक बातें आज भी राष्ट्र-पुनर्रचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के अवसर पर हमें सोचना चाहिए था कि सदियों तक गुलामी में रहने के बावजूद अपना समाज टिका क्यों रहा? हमारी सभ्यता और संस्कृति नष्ट क्यों नहीं हुई? बुरे से बुरे दिनों में भी स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा बनी केसे रही? राजसत्ता से वंचित होकर भी हम फिर स्वतंत्र कैसे हुए? इन रहस्यों को जानने का प्रयास किया होता तो राष्ट्र-नवरचना का कार्य योग्य दिशा में गतिशील होता।

उसी समय सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारकों की, राष्ट्र-नवनिर्माण की दिशा निर्धारित करने के लिए, सामूहिक विचारगोष्ठियाँ आयोजित की जाती तो देशोन्नति में सबका सहयोग संभव होता। इस अनिवार्य कार्य की पूर्णत: अवहेलना की गई और राजसत्ता को ही कल्पवृक्ष माना गया। राष्ट्र-जीवन के अन्य सभी महत्वपूर्ण पहलू भुला दिए गए।

अध्यात्मिक अधिष्ठान के बिना जनजीवन स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता। प्रत्येक मानव में शरीर, मन और बुद्धि के साथ आत्मा अभिन्न रूप से जुड़ी रहती है। वह ही मानव में संवेदनशीलता, सहिष्णुता, नैतिकता, विवेकशीलता, प्रामाणिकता, कर्तव्य-परायणता, सदाशयता, स्नेहशीलता, परस्पर पूरकता एवं सहअस्तित्व के मानवीय गुणों की प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रक्रिया को ही अध्यात्मिकता कहते हैं। इस सर्वाधिक महत्व के कार्य को सभी ने नजरअंदाज किया है। पूजा-पाठ करना मात्र अध्यात्मिकता नहीं है। उपर्युक्त गुणों के बिना जनजीवन शांतिदायक, सुखमय और उन्नतशील बन नहीं सकता।

राजसत्ता में उपर्युक्त गुणों का सृजन करने की क्षमता ही नहीं है। केवल राजसत्ता कलह का कारण बनती है। वह नवस्वतंत्र देश का चतुर्दिक विकास कर ही नहीं सकती। वह अकेले विषमता का कारण बनती है। उसी को सर्वस्व मानने के कारण असंख्य बलिदान देकर प्राप्त स्वतंत्रता भ्रष्टाचार की वेदी पर बलि चढ़ गई है।

स्वतंत्र भारत में केवल भ्रष्टाचार ही पनप रहा है। वह इतना प्रबल हो गया है कि उसने केन्द्रीय मंत्रिमंडल पर भी अपना प्रभाव जमा लिया है। आए दिन ऊंचे से ऊंचे प्रशासकों के यहां से करोड़ों की संपत्ति पकड़ी जा रही है। स्टैम्प पेपर घोटाले ने तो देशभर को अपने जाल में फंसा लिया। किन्तु शासन को उसकी भनक तक नहीं लगी। ऐसी है हमारी शासन-व्यवस्था। हमारी न्याय-व्यवस्था भ्रष्टाचार में लिप्त लोगों को सजा देने में इतना विलंब करती है कि किसी भ्रष्टाचारी को सजा मिलने की संभावना ही नजर नहीं आती। बिना घूस के नागरिकों को सरकारी दफ्तरों से अपने छोटे से छोटे काम करवाना भी संभव नहीं रहा। अर्धशताब्दी की राजनीति ने हमें इस अवस्था में ला पटका है। भ्रष्टाचार की इस देशव्यापी महामारी से मुक्ति दिलाने वाला कोई नेता, दल या संगठन दिखाई नहीं देता। नई पीढ़ी के अलावा यह आवश्यक काम कौन करेगा?

पिछले कुछ समय के घटनाक्रम से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो चला है कि राजनीति के भरोसे देश का विशेषकर गांवों का विकास नहीं हो सकता। इसके लिए समाज को ही आगे आना होगा और समाज को ऊर्जा देने क काम सिर्फ युवा-वर्ग ही कर सकता है। मैं देश की तरूणाई का पुन: आह्वान करता हूँ कि वह अपना उत्तरदायित्व समझे और गांडीव उठाए।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

विदेशी शासकों के प्रति आक्रोश और संघर्ष अधिकाधिक उग्र बनाने के लिए व्यापक जन-आंदोलन करना आवश्यक था। शौर्यपूर्ण गीतों की रचना करना और प्रभावी ढंग से गाना तथा जोशीले भाषणों से नौजवानों में उत्साह, त्याग और बलिदान की भावनाएं जगाना जरूरी था। विदेशी शासकों के दमनकारी कदमों में अवरोध निर्माण करने के लिए संचार माध्यमों में खराबी उत्पन्न करना भी युक्तिसंगत था। ये सब कार्य स्वराज्य प्राप्ति तक ही सीमित होने चाहिए थे।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद ''निर्माण युग'' प्रारंभ होना चाहिए था। राष्ट्र नवरचना में हर नागरिक को सहयोगी बनाना आवश्यक था। देश सदियों तक गुलामी में जकड़ा हुआ था। स्वतंत्र देश के नागरिकों के कर्तव्य की जानकारी उपलब्ध कराना नेतृत्व का दायित्व था। स्वावलंबन का स्वभाव विस्मृत हुआ था। सहअस्तित्व एवं सामाजिक दायित्व की भावना लुप्त हुई थी। आबादियों में परस्पर सहयोग की आदत शेष नहीं थी। पारतंत्र्य के कारण नागरिक सत्ताभिमुखी बने थे।

स्वराज्य पाते ही देश के नागरिकों में गुलामी के कारण आयी इन खराबियों को दूरकर सहअस्तित्व, परस्पर पूरकता एवं स्वावलंबन का स्वभाव विकसित करने के कार्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी। दुर्भाग्य से आजादी के गत उनसठ सालों में इस अनिवार्य कार्य की घोर उपेक्षा की गई और अपनी ही सरकार को विदेशी सरकार जैसा मानकर स्वातंत्र्य संग्राम के काल के विध्वंसात्मक कार्यक्रमों को जारी रखा गया है। कारण, स्वतंत्र भारत के राजनेताओं का लक्ष्य राष्ट्रोन्नति न होकर सत्ता प्राप्ति मात्र बन गया है।

राजसत्ता के लोभ में हमने अपनी मातृभूमि का विभाजन तक स्वीकार किया। सत्य और अहिंसा के पुजारियों ने लाखों निरीह लोगों की हत्याएं होने दीं। असंख्य परिवारों को परंपरागत घरों से उजड़ते हुए शरणार्थी बनने के लिए विवश किया।

सत्ता पाने के लिए अपने ही समाज का विघटन करने में संकोच नहीं किया। इसका प्रतिफल सभी दलों को भुगतना पड़ रहा है। हर एक दल टूट-फूट का शिकार बना है। इन दलों के चोटी के नेता भी एक-दूसरे को अपराधी घोषित कर रहे हैं। यह बना है स्वतंत्र भारत की राजनीति का चरित्र।

अब चुनाव में लालू वाद, मुलायम वाद, नीतिश कुमार वाद, चौटाला वाद, मायावती वाद, क्षेत्रीयवाद आदि सत्ता प्राप्ति के प्रभावी साधन बने हैं। हिन्दुत्व का अभिमान रखने वालों के पास हिन्दुओं में बढ़ रहे इस बिखराव को रोकने का तथा उसमें एकात्मता निर्माण करने का कोई व्यावहारिक उपक्रम दिखाई नहीं देता। मुस्लिम-तुष्टिकरण के खिलाफ हिन्दू रथ-यात्राएं निकाली जा रही हैं। फलस्वरूप, परोक्ष रूप से मुस्लिम वोट-बैंक की ही कीमत और अधिक बढ़ाने का काम हो रहा है।

1947 के पूर्व नौजवानों में देश के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने की प्रबल आकांक्षाएं थी। किन्तु स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के आचरण के कारण स्वार्थसिद्धि की वृत्ति सर्वव्यापी बन गई है।

स्वतंत्र भारत में सामाजिक और राजनीतिक अवस्था में ही खराबी नहीं आई है, अपितु आर्थिक स्थिति भी बहुत बिगड़ गई है। जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है कि भारत विश्व की एक महाशक्ति बनने की ओर बढ़ रहा है। अमेरिका के राष्ट्रपति भी ऐसा ही प्रमाण-पत्र दे रहे हैं। किन्तु देश में अनेक स्थानों पर किसान दारिद्रय से तंग आकर आत्महत्याएं करने लगे हैं। क्या इन दोनों बातों में कोई मेल है?

स्वतंत्रता पाने के बाद हमने अपने देश की वास्तविकता समझने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और रशिया विश्व की महानतम् शक्तियों के रूप में उभरे थे। स्वतंत्र भारत के नेतृत्व ने इन दोनों की प्रगति की दिशा को अपनाना श्रेयस्कर समझा। उसे मिश्रित अर्थव्यवस्था का नाम दिया। इन दोनों महाशक्तियों में से रशिया अपनी ही नीतियों का शिकार बन प्रतिस्पर्धा में किल रहा।

अपनाई गई अर्थव्यवस्था भारत की वस्तुस्थिति के आधार पर खड़ी नहीं हुई थी। हमारे पास जनशक्ति का भरपूर भण्डार था। अमेरिका में पूंजीगत शक्ति का आधिक्य था। अतः पूंजी आधारित अर्थव्यवस्था हमारे लिए अनुकूल नहीं हो सकती थी। वैसे भी पूंजी आधारित अर्थव्यवस्था मानवीयता के प्रतिकूल होती है। इसमें इने-गिने लोग ही तरक्की कर पाते हैं। उनकी संपत्ति बेतहाशा बढ़ती है। इसके बावजूद आजकल विश्व में यही हवा बह रही है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि साम्यवादी कहलाने वाले चीन में भी अरबोंपति अस्तित्व में आए हैं, जबकि चीन के देहाती क्षेत्रों में बेकारों एवं गरीबों की संख्या बेकाबू हो रही है। स्वयं अमेरिका में अरबोंपतियों की संख्या अब 371 हुई है। समाज में बढ़ रही यह बेहिसाब विषमता धीरे-धीरे वहां भी असंतोष के स्वर उठा रही है।

भारत में भी अरबोंपतियों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। वर्ष 2004 में भारत में अरबोंपतियों की संख्या 12 थी, जो वर्ष 2005 के अंत तक 23 अर्थात् दुगनी हो गई है। हमारी आर्थिक प्रगति कुछ ही लोगों के लिए वरदान सिद्ध हो रही है। शेष समाज बेकारी और गरीबी से जूझ रहा है। क्या यह वस्तुस्थिति भारत के महाशक्ति बनने के संकेत दे रही है?

उपर्युक्त विवरण किसी को दोष देने के हेतु से अंकित नहीं किया है। भारत का चतुर्दिक विकास करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उपर्युक्त परिस्थिति प्रस्तुत है। मानव के नवजात शिशु का विकास एकात्म रूप में होता है। एक-एक अवयव का अलग-अलग विकास नहीं होता। सभी अंग एक-दूसरे के लिए पूरक अर्थात् एकात्म रूप में विकसित होते हैं। उसी को बच्चे का स्वास्थ्यपूर्ण विकास माना जाता है। राष्ट्र-जीवन का विकास भी एकात्म रूप में ही होना चाहिए। इसी मर्म की अनुभूति कर स्व. दीनदयाल जी ने "एकात्म मानव दर्शन" की खोज की थी। देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, आदि का समन्वित विकास का युगानुकूल मार्ग उन्होंने प्रस्तुत किया था। इसकी महत्ता उनके राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक साथी समझ नहीं पाए। अन्यथा, स्वतंत्र भारत की यह अवस्था नहीं होती।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

आदि काल से ही भारत में लोकतांत्रिक जीवन प्रणाली प्रचलित थी। वह केवल शासन व्यवस्था तक सीमित न होकर सामाजिक जीवन के हर अंग में व्याप्त थी। बहुसंख्य समाज कृषि-कार्य में लगा रहा। अतः अन्नदाता किसान लोकतंत्र का आधारस्तंभ था। उसने अपना स्वावलंबन अंग्रेजों के शासन काल में भी बनाए रखा।

किन्तु 1947 में प्राप्त स्वतंत्रता के बाद हमारी अपनी सरकारों ने लोकतंत्र के प्रहरी किसानों के स्वावलंबन पर भी कुठाराघात किया।

पश्चिम का पूंजीवाद और रूस-चीन का साम्यवाद समान रूप से लोकतंत्र के प्रतिकूल हैं। भारत की सरकारें इन्हीं के झूलों पर झूल रही हैं। लोकतंत्र के मूलभूत आधार को समझने का हमारे शासकों ने प्रयास ही नहीं किया। वे केवल सत्ता-संघर्ष में ही लगे हुए हैं।

पश्चिमी प्रभाव में आकर औद्योगीकरण की धुन में हमारी सरकारों ने खेती का भी अधिकाधिक मशीनीकरण करना श्रेयस्कर समझा। वे बड़े-बड़े किसानों से घिरे रहते हैं। उन्हीं के लिए कृषि के फायदेमंद तौर-तरीके अपनाते हैं। बड़े-बड़े किसानों को मशीनों के आधार पर कृषि-कार्य करना अधिक सुविधाजनक होता है। वही भारत के सरकारों की कृषि-नीति बन गई तथा भारत की कृषि का मशीनीकरण तेजी से बढ़ता गया।

मशीनीकरण के साथ खाद की आवश्यकता पूर्ण करनी थी। औद्योगीकरण के प्रेमी देश हर बात के लिए वैज्ञानिक विश्लेषण कर कदम बढ़ाते हैं। उन्होंने खेती की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए कृषि-भूमि का रासायनिक विश्लेषण किया और रासायनिक खादों का आविष्कार कर उसका प्रचलन किया।

इन रासायनिक खादों का तत्कालीन लाभ अवश्य दिखाई देता है, जैसा शराबी को प्रारंभ में अधिक स्फूर्ति अनुभव होती है। किन्तु रासायनिक खादों से फसलों पर कई प्रकार की नई बीमारियों का प्रकोप बढ़ता है। इन बीमारियों के निराकरण के लिए रासायनिक कीटनाशकों का उत्पादन किया जाने लगा। इस प्रकार, औद्योगिक देशों में रासायनिक कृषि-पद्धति प्रचलित हुई।

कृषि-मशीनों का, रासायनिक खादों का तथा रासायनिक कीटनाशकों का उत्पादन पूंजीपतियों के विशालकाय कारखानों में होता है। परिणामस्वरूप, किसानों को अपने स्वावलंबन का बलिदान कर कृषि-उपकरणों के लिए पूंजीपतियों पर निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह कृषि-पद्धति किसानों के प्रतिकूल तथा पूंजीपतियों के अनुकूल है। पूंजीपतियों को असंख्य किसानों का सहज में शोषण करने की सुविधा उपलब्ध हुई

है। अमेरिका में इसका दुष्परिणाम दिखाई नहीं पड़ता है। कारण, वहां कुल आबादी के मुश्किल से चार-पांच प्रतिशत ही लोग कृषि-कार्य में संलग्न हैं। किन्तु भारत में कुल आबादी की 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर करती है। परिणामस्वरूप, कृषि का औद्योगीकरण भारत के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है।

पश्चिम के सम्पन्न देशों ने औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी है। वे उसी आधार पर अधिकाधिक समृद्ध हो रहे हैं। उन्होंने कृषि-कार्य को भी औद्योगिक प्रक्रिया माना था। इस कारण, उन्हें कृषि-कार्य की विशेषता समझ में नहीं आई थी।

अपने देश में कृषि-कार्य आदि काल से होता आया है। दीर्घ काल के अनुभवों के फलस्वरूप हमारी कृषि-पद्धति प्राकृतिक आधार पर विकसित हुई थी।

कृषि-उपज का विकास जैविक प्रक्रिया है। उसका रासायनिक विश्लेषण तो किया जा सकता है, किन्तु रासायनिक आधार पर कृषि-कार्य करना अप्राकृतिक है। इस तथ्य को पश्चिमी वैज्ञानिक समझ नहीं पाए थे।

कृषि-कार्य रासायनिक आधार पर करने के निम्न दुष्परिणाम अब उजागर हो रहे हैं:-

1. यह पद्धति लोकतंत्र के प्रतिकूल और पूंजीपतियों के अनुकूल है।
2. इससे किसानों का स्वावलंबन समाप्त होता है और उन्हें पूंजीपतियों का हमेशा के लिए मुखापेक्षी बना रहना पड़ता है।
3. रासायनिक खाद कृषि-भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते नहीं, अपितु उर्वरा शक्ति का शोषण कर भूमि को कमजोर बना डालते है। फलस्वरूप, रासायनिक खादों की मात्रा प्रति फसल बढ़ानी पड़ती है। अंत में जमीन की उपजाऊ शक्ति नष्ट होती है।
4. रासायनिक खादों और कीटनाशकों के उपयोग के कारण कृषि-उपज में विषैले तत्वों का प्रवेश होता है, जो मानव के लिए अनेकानेक रोगों का कारण बनता है।
5. रासायनिक तत्वों का भूमि में ही नहीं, अपितु भूगर्भ-जल में भी प्रवेश होकर पेयजल प्रदूषित होता है।

उपर्युक्त दुष्परिणामों के फलस्वरूप उद्योग आधारित सम्पन्न देश अब अपनी कृषि-नीति बदलने के लिए मजबूर हुए हैं। उन देशों में जैविक कृषि-उपज को अधिक दाम देकर खरीदना प्रारंभ हुआ है। किन्तु आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी देशों का अंधानुकरण करने वाले हमारे नेतागण अब असमंजस में पड़े हैं। किन्तु क्या वे बड़े-बड़े किसानों और पूंजीपतियों के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करा पाएंगे?

भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्व में अपनी अनोखी विशेषता रखती है। वह मानव में कृतज्ञता का भाव अंकुरित व पल्लवित करती है। फलस्वरूप, भारतीय परंपरा सभी उपकारक तत्वों को पूज्य मानती है। वह हिमालय को देवता, गंगा को गंगा-माता, भूमि को भूमाता और गाय को गो-माता के रूप में अनुभव करती है। इस प्रकार, भारतीय संस्कृति प्रकृति का स्वार्थसिद्धि के लिए शोषण करना नहीं सिखाती। अपितु स्वयं को प्रकृति की संतान मानकर प्रकृति का शोषण नहीं - दोहन करती है, मानो बच्चा माँ का दूध पीकर स्वयं को बलवान बनाते हुए माँ को भी सुख पहुंचाता है।

भारतीय परंपरा के अनुसार किसान की कृषि-भूमि के प्रति पूज्य भाव होने के कारण उसका व्यवहार कृषि-भूमि के प्रति संतानवत् रहता रहा है। कृषि-भूमि से प्राप्त धन-धान्य के कारण वह उसकी उर्वरा शक्ति सदा-सर्वदा कायम रखने के लिए जी-जान से जुटा रहता रहा है।

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उपभोग प्रवण लोग अपनी देशी गायों की महत्ता समझ नहीं पाए। वे गाय को एक दूध देने वाला प्राणी मात्र मानने लगे। ठंडे देशों की गायें अधिक दूध देती हैं। इस कारण, हमारे नेताओं का उन गायों के प्रति आकर्षण बढ़ा। उन्होंने होलस्टिन, स्विस ब्राउन और जर्सी नस्ल के विदेशी सांडों का वीर्य आयात कर अपने देशी गायों का कृत्रिम गर्भाधान करना प्रारंभ किया। वह अभियान व्यापक स्तर पर चलाया। इस कारण, अपने देश के गायों की मूल नस्ल मिलना कठिन हो गया है। उपर्युक्त अभियान के कारण अपने देश का कितना नुकसान हुआ, इसका अनुमान लगाना कठिन है।

देशी गायें भारत की अर्थव्यवस्था की आधारशिला रही हैं। गाय और कृषि एक-दूसरे से अभिन्न हैं। गायों से मानव को दूध अवश्य मिलता है। किन्तु जैविक कृषि का मूल आधार गोवंश ही है। यह विशेषता हमारे आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों को ज्ञात नहीं है।

देशी गायों द्वारा प्राप्त बछड़े केवल जैविक कृषि-कार्य के आधार ही नहीं, अपितु यातायात में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है। व्यापक स्तर पर बने रेलमार्ग तथा रोडवेज के विशाल विस्तार के बावजूद देश का लगभग पचास प्रतिशत यातायात आज भी बैलों द्वारा ही होता है।

गोवंश खेती के सभी कार्य सम्पन्न करते हुए आवश्यक मात्रा में जैविक खाद भी उपलब्ध कराता है। उसके लिए किसान को अतिरिक्त धन खर्च करना नहीं पड़ता। किसानों को स्वावलंबी बनाने में गोवंश आधारभूत साधन है। खेती के उपकरण गांव के ही बढ़ई और लोहार बना देते रहे हैं। इस कारण, किसान को किसी का मुखापेक्षी बनना नहीं पड़ता था। इस प्रकार, किसान लोकतंत्र का सर्वप्रमुख आधार था।

देशी गायों का मूत्र (गोमूत्र) फसलों की बीमारियों का निराकरण करने में समर्थ है। यदि फसलों पर अधिक प्रबल कीटाणुओं का आक्रमण हुआ तो गोमूत्र में कड़वे नीम की पत्तियां दस दिन सड़ाने के बाद वह मिश्रण पानी में तीन प्रतिशत मिलाकर उसका छिड़काव किया तो घातक से घातक रोगों के कीटाणुओं का सफाया होता है। इसके अतिरिक्त फसलों पर बोने के एक माह बाद से फसल में फूल आने तक पानी में दो प्रतिशत शुद्ध गोमूत्र मिलाकर पंद्रह-बीस दिन में एक बार छिड़काव किया गया तो फसल का विकास अधिक गति से होता है, फसल अधिक सतेज और तगड़ी बनती है तथा अधिक उपज प्रदान करती है। ये सब प्रयोगसिद्ध तथ्य हैं। ये गुण देशी गायों के मूत्र में ही पाए जाते हैं।

विदेशी सांडों के वीर्य से संकरित गायों के बछड़े अपने देश की जलवायु में न खेती के काम आ पाते हैं, न यातायात के। पश्चिमी देशों में बछड़ों का माँस लोकप्रिय है। अपने देश में उसे अपनाना संभव नहीं है।

हमारी परंपरा में हर किसान गोपालक रहा है। भारत में गऊ के बिना किसान ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता था। हर किसान के यहां दूध, दही, मट्ठा आदि उपलब्ध होता था। फलस्वरूप, देश में कुपोषण की समस्या का नामोनिशान नहीं था। हमारे देश में दूध बेचने की प्रथा थी ही नहीं।

गोवंश धन-धान्य उत्पादन का आधार था। गोवंश का उदर-भरण उन पदार्थों से होता है, जो मानव के लिए अखाद्य हैं। बूढ़ी गाय और बैल काम लायक न रहने पर भी किसान के लिए बोझ नहीं बनते थे। प्रति बूढ़ी गाय या बैल केवल चारा-पानी पाकर रोज कम से कम 13 कि.ग्रा. गोबर देते हैं। इस गोबर का बायो-गैस संयंत्र में उपयोग करने पर ऊर्जा प्रदान करने वाली गैस तथा उत्तम खाद प्राप्त होती है। मरने पर चमड़ा, हड्डियाँ, सींग और खुर के अलग से दाम मिलते हैं। हड्डियों का चूरा जैविक खाद की शक्ति बढ़ाता है।

जैविक खाद से खेती की प्रति एकड़ उपज भी आधुनिक कृषि से अधिक होती थी, इसके प्रमाण इतिहास में मौजूद हैं। अब विश्व में जैविक कृषि-पद्धति अपनाना प्रारंभ हुआ है।

अपने देश के युवाओं को जैविक कृषि का विश्व के लिए अनुकरणीय नमूना प्रस्तुत करने का अनोखा मौका मिला है।

शुभाकांक्षी -

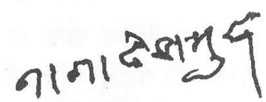

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

स्वतंत्र भारत के संविधान पर अंग्रेजों की शासन-प्रणाली छाई हुई है। अंग्रेजों का प्रशासनिक ढांचा, जो गुलामी में हम पर लादा गया था, उसे उसी रूप में हमने अपने लिए कायम रखा है।

स्वतंत्र भारत का शासन विभेदकारी ''पार्टी डेमोक्रेसी'' के नाम पर चलाया जा रहा है। यदि वस्तुस्थिति को समझें तो हमें अनुभव होगा कि स्वतंत्र भारत की राजनीति गुलामी के काल में अंग्रेजी शासन की नीति के समान ''डिवाइड एण्ड रूल'' की ही कार्बन-कॉपी है।

आजादी के 58 साल में अपवादस्वरूप केवल एक ही देशभक्तिपूर्ण कार्य हुआ है। वह है स्व. सरदार पटेल द्वारा 500 से अधिक देशी रियासतों का भारत में विलीनीकरण। इसके अतिरिक्त 1947 के बाद अपना समाज जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयवाद, संप्रदायवाद तथा पार्टीवाद के कारण अधिकाधिक बिखरता जा रहा है। पार्टी आधारित शासन डेमोक्रेसी की विडंबना मात्र है। वह लोकाभिमुखी न होकर गुलामी के काल जैसी सत्ताभिमुखी है।

देश स्वतंत्र होने के बाद सभी पार्टियां आम लोगों को स्वावलंबी व कर्तव्यवान बनाने का काम नहीं करती। वे उन्हें हर आवश्यकता पूर्ति के लिए सरकार पर निर्भर रहने के लिए ही उकसाती है। रचनात्मक कार्य करने के स्थान पर गुलामी के दिनों जैसे ही आंदोलन, प्रदर्शन, धरने, हड़ताल और तोड़-फोड़ तक करने के लिए लोगों को भड़काती है। मानो, देश के नवनिर्माण का दायित्व केवल सरकार का है, विरोधी दलों और सामान्य जनों का नहीं है। फलस्वरूप, स्वतंत्र भारत में देशभक्ति एवं सामाजिक कर्तव्य की भावना जगाने का मूलभूत कार्य कोई नहीं कर रहा है। इस कारण, समाज में देशभक्ति की भावना लुप्त हो गई है। क्या यह स्वतंत्र भारत का अपेक्षित वातावरण है?

स्वतंत्रता संग्राम में कठोरतम यातनाएं सहने वाले स्व. जयप्रकाश जी ही एक ऐसे अग्रिम पंक्ति के नेता रहे, जिन्होंने स्वतंत्र भारत में अपने लिए कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया। अंतिम सांस तक वे देश और समाज की उन्नति के लिए लड़ते रहे। पार्टी डेमोक्रेसी भारत के लिए घातक बनेगी, यह उनका सुविचारित मत था।

उन्होंने अपने इतिहास तथा दुनिया भर की शासन-प्रणालियों का गहन अध्ययन कर भारत के लिए 'पार्टीलेस डेमोक्रेसी' को उपयुक्त माना था।

उनके इस सुझाव को किसी भी नेता या पार्टी ने तथा मीडिया ने पसंद नहीं किया। सभी ने 'पार्टीलेस डेमोक्रेसी' की कल्पना को अव्यवहारिक करार दिया। फलस्वरूप, जयप्रकाश जी राजनीतिक क्षेत्र में अनेक वर्षों तक उपेक्षा के शिकार बने रहे। किन्तु वे

अपनी बात पर अडिग रहे। लगभग छह दशकों का अनुभव जयप्रकाश जी के विचार की महत्ता अनुभव कराता है।

पार्टी आधारित डेमोक्रेसी के कारण नेतागण देश को सुशासन देने के स्थान पर सत्ता-संघर्ष में ही उलझे हुए हैं। सत्ता पाने के लिए विधि-निषेध की उन्हें परवाह नहीं है। 'आयाराम-गयाराम' का मार्ग अपनाने में उन्हें संकोच नहीं है। क्षेत्रीयता, जातियता व सांप्रदायिकता के गठजोड़ से सिद्धांतहीन सरकारें बनाई जा रही हैं। राजनीति में अखिल भारतीय जीवन-दृष्टि की अवहेलना हो रही है। केवल सत्ता पाने का लक्ष्य ही सर्वोपरि बना है।

1969 में सत्ता में बने रहने के लिए प्रधानमंत्री इंदिरा जी ने अपनी ही पार्टी कांग्रेस को खण्डित किया था। जब सत्ता पाना ही नेताओं तथा पार्टियों का लक्ष्य बना है तो सभी पार्टियां हर स्तर पर गुटबाजी की शिकार बनी है। राजनीति आदर्श-विहीन बनी है। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारें अस्थिर होने लगी हैं। भ्रष्टाचार अनियंत्रित हो गया है। अराजकता देशव्यापी बनी है। शासन से जनता का भरोसा उठ गया है।

स्वतंत्रता के 58 साल में किसी भी पार्टी की सरकार ने छह लाख गांवों में रहने वाली लगभग तीन-चौथाई आबादी की ओर देखा तक नहीं है। यह है हमारा प्रचलित लोकतंत्र। बेकारी और गरीबी की यातनाओं से त्रस्त होकर देश के अनेक भागों में लोग आत्महत्याएं कर रहे हैं। किन्तु देश के व्यक्तिवादी व सत्ताप्रेमी नेता अपनी सत्ता कायम रखने या पाने के लिए करोड़ों रूपयों के वारे-न्यारे कर रहे हैं। उन्हें देश और समाज की दुर्दशा की तनिक भी परवाह नहीं है। यह है पार्टी डेमोक्रेसी की दिशा और दशा।

गुजरात में श्री चिमनभाई पटेल की सरकार के भ्रष्टाचारी व अधिनायकवादी तौर-तरीकों से तंग आकर क्रुद्ध युवाओं ने सरकार के खिलाफ 'नवनिर्माण' आंदोलन प्रारंभ किया था। प्रांत भर के युवजनों ने एकजुट होकर अपने आंदोलन को दुर्दमनीय बनाया था। परिणामस्वरूप, चिमनभाई पटेल की सरकार का टिकना असंभव हुआ था।

गुजरात में युवा-शक्ति के स्वप्रेरित उभार से जयप्रकाश जी का युवा-शक्ति पर विश्वास द्विगुणित हुआ। उन्होंने ''समग्र-क्रांति'' द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में आमूलचूल परिवर्तन प्रारंभ करने के लिए यही समय उपयुक्त समझा।

1974 में बिहार के भ्रष्ट शासन के खिलाफ उन्होंने अपना स्वास्थ्य खराब होते हुए भी ''समग्र-क्रांति'' अभियान की शुरूआत की।

जयप्रकाश जी की किडनी काम करने से इंकार कर चुकी थी। हर हफ्ते उन्हें डायलिसिस करवाना अनिवार्य हुआ था। अधिक आयु के कारण कमजोरी भी बढ़ रही थी। फिर भी देश की गंभीर हालत ने उन्हें बेचैन बनाया था। वे अपनी बीमारी व कमजोरी की परवाह किए बिना गांव-गांव का दौरा करने लगे। युवक-युवतियां तपस्वी जयप्रकाश जी की व्याकुलता और हिम्मत देखकर ''समग्र-क्रांति'' में जी-जान से जुटने लगे। बिहार के विद्यालयों से युवक-युवतियां टोलियां बनाकर गांव-गांव में ''समग्र-क्रांति'' के जुलूस

निकालने लगे थे। विद्यार्थी परिषद् के युवकों ने भी इसमें योगदान दिया। बिहार की सम्पूर्ण युवा-शक्ति ''समग्र-क्रांति'' अभियान में उमड़ पड़ी।

जयप्रकाश जी ने 14 नवम्बर, 1974 को पटना में विधान सभा भवन पर प्रदर्शन की घोषणा की। सरकार ने जगह-जगह बैरिकेड खड़े कर प्रदर्शनकारी विधान सभा भवन न पहुंचें, इसका जोरदार बंदोबस्त किया था। किन्तु उभरती युवा-शक्ति के जोश का तफ़ान इतना प्रबल था कि सारे बैरिकेड बेकार सिद्ध हुए।

हजारों की संख्या में युवक-युवतियां जयप्रकाश जी के नेतृत्व में विधान सभा भवन की ओर बढ़ रहे थे। इनमें किसी भी राजनीतिक पार्टी या नेता का योगदान नहीं था। पुलिस के अश्रुगैस और लाठी चार्ज के बावजूद जुलूस तितर-बितर न होकर आगे ही बढ़ता गया। युवक-युवतियों के सर फटकर लहू-लुहान होते देख जयप्रकाश जी स्वयं आगे बढ़े। उन पर भी लाठी प्रहार करने में पुलिस ने संकोच नहीं किया। थके-मांदे जयप्रकाश जी घायल अवश्य हुए, किन्तु प्रभु कृपा से उनके प्राण बच गए।

जवानों के इस विशाल हुजूम में से किसी एक ने भी पुलिस पर पथराव नहीं किया। तोड़-फोड़ की एक भी घटना नहीं घटी। यह थी तपस्वी जयप्रकाश जी के व्यक्तित्व की महिमा।

पटना में जयप्रकाश जी पर हुए लाठी-प्रहार की निंदा देश भर में प्रतिध्वनित हुई। जयप्रकाश जी के साहसी साथी स्व. रामनाथ गोयनका जी हर कदम पर ''समग्र-क्रांति'' का साथ दे रहे थे। ''समग्र-क्रांति'' के वे आधारस्तंभ ही थे। उनके द्वारा प्रस्थापित 'इंडियन एक्सप्रेस' के देशव्यापी समूह ने ''समग्र-क्रांति'' की लहर देश भर में फैलाई। देश भर की युवा-शक्ति ने ''समग्र-क्रांति'' का आह्वान स्वीकार किया था। श्रीमान् चंद्रशेखर ने जयप्रकाश जी के अभियान की दुर्दमनीयता का अनुभव किया था। उन्होंने जयप्रकाश जी से टकराव न लेने की प्रधानमंत्री को सलाह दी थी। लेकिन इंदिरा जी किसी की भी परवाह करने के मूड में नहीं थी।

दिनांक 12 जून, 1975 को इलाहाबाद हाईकोर्ट ने इंदिरा जी की लोक सभा सदस्यता निरस्त की थी। किन्तु इंदिरा जी गैर-कानूनी ढंग से गद्दी पर बनी रहने पर उतारू थी।

इंदिरा गांधी ने जयप्रकाश जी के नेतृत्व में जन सैलाब की प्रबलता देख 25 जून, 1975 को आधी रात में देश पर 'इमरजेन्सी' लादी। देश के विरोधी दलों के (कम्युनिस्टों को छोड़कर) सभी नेताओं, कार्यकर्ताओं और युवाओं को रातों रात जेलों में ठूंस दिया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबंध लगाया। मीडिया के मुंह पर ताला ठोंक दिया। अपने विरूद्ध उठने वाली आवाज को बंद कर दिया। किन्तु स्व. रामनाथ जी गोयनका का इंडियन एक्सप्रेस समूह अपनी जिद पर अड़ा रहा।

इंदिरा जी की तानाशाही के सामने संपूर्ण देश डेढ़ साल चुपचाप दिखाई पड़ा। इंदिरा जी ने समझा कि अब उनके विरूद्ध खड़ा होने की कोई हिमाकत नहीं कर सकता। इसी मुगालते में इंदिरा जी ने 1977 के प्रारंभ में आम चुनाव करने की घोषणा कर दी।

जयप्रकाश जी की शारीरिक अवस्था ठीक नहीं थी। लेकिन अपने लक्ष्य-पूर्ति पर अडिग रहने का दुर्दम्य साहस उनमें कायम था। उन्होंने देश भर के चुनाव का नेतृत्व किया। फलस्वरूप, 1977 के आम चुनाव में इंदिरा जी का अहंकार मटियामेट हुआ और देश तानाशाही से मुक्त हुआ।

मोरारजीभाई देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी। लेकिन राजनेताओं की आँखें खुल नहीं पाई। वे पूर्ववत् व्यक्तिगत सत्ताधीश बनने के आपसी संघर्ष में जुट गए।

इन नेताओं में जसलोक अस्पताल में मृत्यु-शैया पर पड़े जयप्रकाश जी को देखने तक कोई नहीं पहुंचा। जयप्रकाश जी ने अंतिम सांस ली।

अपने देश का इतिहास बता रहा है कि देश की तरूणाई ने ही हर समय देश को महान संकटों से बचाकर उन्नति के मार्ग पर गतिशील बनाया था। 1947 में स्वतंत्रता पाने के बाद भी देश के वयोवृद्ध नेताओं ने देश को विकट संकट में ला पटका है। युवाओं को ही फिर से देश को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाना होगा।

शुभाकांक्षी -

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

सन् 1977 के आम चुनाव में श्रीमती इंदिरा जी की तानाशाही से देश मुक्त हुआ। पार्टी डेमोक्रेसी पूर्ववत् चलने लगी। श्री मोरारजी भाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी। इस क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रणेता जयप्रकाश जी के प्रति सत्ता के मजनुंओं के मन में कृतज्ञता का अपेक्षित भाव दिखाई नहीं दिया। आपातकाल का संकट झेलने के बावजूद वे सत्तासुख भोगने में ही कृतार्थता अनुभव करने लगे। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में आवश्यक परिवर्तन करने की किसी को चिंता नहीं हुई।

दीनदयाल शोध संस्थान ने 1977 की 25 सितम्बर को स्व. दीनदयाल जी की जयंती पर गोण्डा जिले में ''जयप्रभा ग्राम'' की स्थापना की।

जयप्रकाश जी के ''समग्र-क्रांति'' अभियान को आगे बढ़ाए बिना भारत का भविष्य उज्ज्वल बनाना संभव नहीं है, यह दीनदयाल शोध संस्थान की धारणा थी। दीनदयाल जी द्वारा प्रणीत ''एकात्ममानव दर्शन'' की अवधारणा एवं जे.पी. की ''समग्र-क्रांति'' की अवधारणा में विशेष अंतर नहीं था। दीनदयाल जी ने एक और पहलू उसमें जोड़ा था। वह था - अपनी गतिशील संस्कृति को यथास्थितिवादियों के चंगुल से छुड़ाकर पूर्ववत् गतिमान बनाना। अत: दीनदयाल शोध संस्थान देश के ग्रामीण अंचल में जयप्रकाश जी एवं दीनदयाल जी की अवधारणाओं को साकार करने के प्रयोगों में जुट गया।

सत्ता-प्राप्ति की आकांक्षा से प्रेरित विभिन्न पार्टियों से बनी जनता पार्टी का अस्तित्व टिकाए रखने की चिंता की अपेक्षा स्वयं सत्ता में शीर्ष पद पाने की ही प्रवृत्ति अधिक प्रबल थी।

1978 के अप्रैल माह के प्रारंभ में मैंने प्रधानमंत्री श्री मोरारजी भाई से सविनय अनुरोध किया था कि वे अब प्रधानमंत्रीत्व का दायित्व स्वयं छोड़कर अपने पसंद के किसी योग्य युवा नेता को सौंप दें। इससे उनकी कीर्ति सदा-सर्वदा बनी रहेगी।

मेरे इस प्रस्ताव से मोरारजी भाई नाराज हुए। वे प्रधानमंत्री पद से हटना नहीं चाहते थे। मैंने उनसे विनम्रतापूर्वक कहा कि जनता पार्टी की सरकार अब आपके नेतृत्व में अधिक दिन टिक नहीं पाएगी। मेरे इस कथन से वे और अधिक क्रुद्ध हुए। मेरे इस प्रस्ताव का पत्र उन्होंने फाड़कर फेंक दिया।

मेरे इस प्रस्ताव से मेरे पुराने जनसंघी साथी भी नाराज हुए। उन्होंने श्री कंवरलाल गुप्ता को मेरे पास भेजा। मैं अपना प्रस्ताव वापस लूं, इसका उन्होंने आग्रह किया।

मैंने उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहा कि ''आप लोग बहुत बड़े नेता हैं। आपको अपने पैरों तले से खिसकती जमीन दिखाई नहीं देती। श्रीमती इंदिरा जी ने आपकी पार्टी की कमजोरी

पहचान ली है। आपकी पार्टी में संजय गांधी ने जबरदस्त सेंध लगाई है। अत: मोरारजी भाई के नेतृत्व में आपकी सरकार अधिक समय तक चलने वाली नहीं है।'' मेरी बात पर उन्होंने भरोसा नहीं किया। अत: जो होना था, हो गया।

चौधरी चरण सिंह प्रधानमंत्री पद की लालसा में श्रीमती इंदिरा जी के झांसे में आए। मोरारजी भाई की सरकार को धराशायी किया। सब भौंचक्के रह गए। चापलूस अधिकारियों तथा स्वार्थी साथियों की सलाह से देश की हुकूमत चलाने वालों की यही दुर्गति होती है।

सत्ता से वंचित होते ही जनता पार्टी का बिखरना अवश्यंभावी था। पूर्वाश्रमी के भारतीय जनसंघ नेताओं ने ''भारतीय जनता पार्टी'' के नाम से कार्य करने का निर्णय लिया। 1980 में मुम्बई में ''भारतीय जनता पार्टी'' का प्रथम अधिवेशन हुआ। उसमें दीनदयाल जी के ''एकात्ममानव दर्शन'' को तिलांजली दी गई। गांधीवादी समाजवाद का दर्शन अपनाया गया। इस पर संघ-नेतृत्व ने कोई आपत्ति नहीं की। परिणामस्वरूप, ''भारतीय जनता पार्टी'' अन्य दलों के समान एक और सत्ता-पिपासु पार्टी अस्तित्व में आई।

11 फरवरी, 1968 की प्रात: मुगलसराय स्टेशन की रेल पटरियों से सटा पड़ा दीनदयाल जी का शव पाया गया। संयोगवश, परमपूज्य गुरू जी उस समय बनारस में ही थे। वे पोस्टमार्टम के स्थान पर दीनदयाल जी के शव का अंतिम-दर्शन करने पहुंचे। प. पू. गुरू जी दीनदयाल जी को बहुत मानते थे। उनके मुंह से अनायास शब्द निकल पड़े, ''तुम तो नहीं रहे, तुम्हारे ''एकात्ममानव दर्शन'' का क्या होगा?'' प. पू. गुरू जी के ये शब्द मेरे अंत:करण को सतत् चुभते रहते हैं।

संघ-कार्य से लगभग प्रारंभ से जुड़े मा. बाबासाहेब आप्टे परमपूज्य डॉक्टर जी के साथ छाया के समान जुड़े हुए थे। प. पू. डॉक्टर जी की आकांक्षाओं को साकार करना मा. आप्टे जी का जीवन-व्रत था। अपने देशव्यापी समाज को अपना परिवार मानकर तदनुसार संघ स्वयंसेवक अपनी जीवन-रचना करें, यह प. पू. डॉक्टर जी की आकांक्षा थी। संघ-कार्य की इस विशेषता को मा. आप्टे जी ने आत्मसात् कर लिया था।

1946 के 16 अगस्त को मुस्लिम लीग ने कलकत्ते से अपना ''डायरेक्ट एक्शन'' प्रारंभ कर हिन्दुओं का कत्लेआम किया था। देश भर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे थे।

संयोगवश, उन्हीं दिनों मा. आप्टे जी अपने प्रवास के कार्यक्रम के अनुसार गोरखपुर पहुंचे थे। मैं उस समय गोरखपुर विभाग का संघ-प्रचारक था।

गोरखपुर में संघ की शाखाएं बहुत अच्छी थीं। नगर की 6 शाखाओं में एक हजार से अधिक दैनिक उपस्थिति रहती थी। अधिकांश संख्या तरूणों की ही होती थी।

गोरखपुर में मुस्लिम आबादी काफी थी। अत: गोरखपुर में दंगे की आशंका से लोग भयभीत थे। शहर के पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित लोग 40-50 की संख्या में मा. आप्टे जी से मिलने आए थे। उन सबने मा. आप्टे जी से आग्रह किया था कि वे संघ द्वारा हिन्दुओं की रक्षा करने का दायित्व संभालें।

मा. आप्टे जी ने इन लोगों से कहा, ''आपकी यह अपेक्षा स्वाभाविक है। किन्तु संघ यह दायित्व स्वीकार नहीं कर सकता।'' इस पर गोरखपुर के सबसे बड़े वकील श्री

हरिहर प्रसाद दुबे ने खड़े होकर कहा, ''यदि आपका संघ यह दायित्व स्वीकार नहीं करेगा तो आपके हिन्दू-संगठन की आवश्यकता ही क्या है?'' इसी अर्थ के तर्क अन्य लोगों ने भी प्रकट किए।

मा. आप्टे जी ने इन लोगों से प्रार्थना की, ''आप कृपया शांति से संघ की भूमिका समझने का प्रयास करें। संघ-निर्माता प. पू. डॉक्टर जी ने सब प्रकार के अनुभवों के बाद संघ की नीति-निर्धारित की है। अभी तक हिन्दुओं की सुरक्षा एवं उत्थान का दायित्व कोई न कोई संस्था निभाने के लिए सामने आती रही। समाज स्वयं असंगठित और निर्बल बना रहता था। संस्थाएं तो आती-जाती रहती हैं। समाज स्थायी तत्व है। यदि वह स्वयं समर्थ और स्वावलंबी न बना और किसी न किसी के आश्रय का मुखापेक्षी बना रहा तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ेगा।

संघ हिन्दू समाज को समर्थ एवं स्वावलंबी बनाना चाहता है। संघ हिन्दू समाज के संरक्षण का श्रेय लेकर वाहवाही लूटना नहीं चाहता।

आप सब हिन्दुओं के नाते समाज की सुरक्षा करने के लिए स्वयं सिद्ध हों, तो संघ के स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक के नाते नहीं, अपितु हिन्दू होने के नाते हर प्रकार के संकट में सबसे आगे दिखाई देंगे।''

मा. आप्टे जी के विचारों से सब सहमत हुए। सबने तय किया कि वे नगर के सभी मोहल्लों में मा. आप्टे जी की सलाह के अनुसार सिद्धता करेंगे। फलस्वरूप, गोरखपुर दंगे से पूर्णत: बच गया था।

संघ की इस घटना ने मेरे अंत:करण पर संघ के मर्म की अमिट छाप छोड़ी है।

मा. आप्टे जी संघ-कार्य को संकुचित दायरे में जकड़ना नहीं चाहते थे। प. पू. डॉक्टर जी की आकांक्षा के अनुसार संपूर्ण समाज को अपना परिवार मानने की अवधारणा को व्यावहारिक धरातल पर साकार करना ही संघ का एकमेव कार्य मानते थे।

राजनीतिक पार्टी बनाने से संघ परोक्ष रूप से ही क्यों न हो, एक पार्टी बने बिना नहीं रहेगा। यह प. पू. डॉक्टर जी की अवधारणा के पूर्णत: प्रतिकूल है। परोक्ष रूप से भी दलगत राजनीति में पड़ने से संघ संपूर्ण समाज का रूप खो बैठेगा। अत: वे अपनी अंतिम सांस तक संघ को दलगत राजनीति से पूर्णत: अलिप्त रखने का आग्रह करते रहे हैं।

50 साल के अनुभव के बाद यह सिद्ध हुआ है कि मा. आप्टे जी का चिंतन वास्तविकता की कसौटी पर खरा उतरा है।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

विशाल भारत प्राकृतिक विविधताओं से भरा पड़ा है। एक ही समय अपने देश में उष्ण, शीत व मध्यम जलवायु विद्यमान रहती है। विभिन्न अंचलों में बहुविध प्रकार की वन-सम्पदा उपलब्ध है। अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों से भारत का भूगर्भ सम्पन्न है। खाद्यान्नों एवं फलों-फूलों के कई प्रकारों का देश में उत्पादन होता है। रहन-सहन में और रूप-रंग में भी बहुत अंतर है। बोलियों और लिपियों की विविधताएं भारत की अपनी ही विशेषता है।

इतनी विविधताओं के बावजूद हजारों सालों से देशवासियों में एकात्मता की अखण्ड परंपरा चली आ रही है। यह हमारे पूर्वजों की कठोर साधना का अनोखा प्रतिफल है। कुंभ मेलों, चारों धामों की यात्राओं और अमरनाथ के दर्शन जैसे असंख्य देशव्यापी श्रद्धा-केन्द्रों का जाल सामाजिक एकात्मता का प्रतीक है।

काल के प्रबल प्रवाह, नेतृत्व की ढलती क्षमता, अनेक विदेशी आक्रमणों व गुलामी के कारण इनमें अंतर्निहित एकात्मता की भावना पर लगातार प्रहार होते रहे हैं। चराचर में आत्म-तत्व के बोध की जीवन-दृष्टि भी कमजोर पड़ती गई है। फलस्वरूप, समाज में विघटन, अशांति, अनाचार और आपसी कलह बढ़ता जा रहा है।

विकसित कहे जाने वाले सम्पन्न देशों में आत्म-तत्व का बोध दुर्लभ है। उन्होंने उपभोग पूर्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है। उपभोगवादी वृत्ति व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं में ही समाधान मानती है। वह मानव की प्राकृतिक विशेषता अर्थात् मानवीयता को उभरने नहीं देती।

उन देशों में कौटुंबिक जीवन में आत्म-तत्व की भावना पाना कठिन है। पति-पत्नी के आजीवन साथ-साथ रहने की वहां अवधारणा ही नहीं है। ऐसी स्थिति में वहां की नई पीढ़ी में व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि ही पनपना स्वाभाविक है।

उन देशों के उपभोग प्रधान जीवन का प्रभाव स्वतंत्र भारत में तेजी से बढ़ रहा है। उससे पं. दीनदयाल जी चिंतित हुए थे। उपभोग का प्रबंध करना शरीरधारी मानव की प्राकृतिक आवश्यकता है। किन्तु मानव का जन्म केवल उपभोग पूर्ति के लिए नहीं हुआ है। वह जन्म से ही संवेदनशील होता है। अन्यों के सुख-दुःख में वह सहभागी होता है। दुखियों का दुःख दूर करने पर उसे अनोखा सुख मिलता है। इस दिशा में गतिशील होने में ही मानव जीवन की सार्थकता निहित है। इस संवेदना के अभाव में वह पशु-तुल्य बन जाता है।

लेकिन दुर्भाग्यवश, अपना देश भी उपभोग प्रधान देशों के संवेदनहीन मार्ग पर चल पड़ा है। इससे भारत, भारत न रहकर, उपभोग-प्रवण देशों का अनुगामी बन रहा है। इससे, विश्व से मानवीयता ही मिटने का खतरा खड़ा हुआ है।

इस खतरे को भांपकर स्व. दीनदयाल जी ने "एकात्म मानव दर्शन" का उपाय प्रस्तुत किया था। उन्होंने इस दर्शन को देश के अनेक प्रतिष्ठित विचारकों के सम्मुख रखा था। उनसे विस्तृत विचार-विनिमय किया था। स्व. श्री राजगोपालाचारी ने भी इसे सराहा था। प.पू. गुरू जी ने इसे "सामाजिक संजीवनी" कहा था। भारतीय जनसंघ के विजयवाड़ा अधिवेशन में इसे सर्वसम्मति से स्वीकृत किया था। किन्तु दीनदयाल जी की हत्या के बाद उनके "एकात्म मानव दर्शन" को भी सबने तिलांजलि दे डाली है।

"एकात्म मानव दर्शन" भारतीय जीवन दर्शन का ही नया नामकरण माना जा सकता है। भारतीय जीवन दर्शन मानव-मानव में भेद नहीं करता। अन्यथा चराचर में आत्म-तत्व अनुभव करने की संभावना ही नहीं होती। वह हर एक नागरिक को मानव मानकर ही व्यवहार करता है। किसी से भी उसकी उपासना पद्धति, भाषा, क्षेत्रीयता, जातियता या ऊंच-नीचता के आधार पर भेदभाव को अमानवीय मानता है।

भारतीय जीवन दर्शन की अपनी ही आर्थिक जीवन-दृष्टि है। अन्य देशों में व्यक्तिगत समृद्धि के लिए ही काम करने की प्रेरणा मिलती है। व्यक्तिगत समृद्धि के लिए ही वहां व्यवसायिक-संगठन खड़े होते हैं।

किन्तु भारत में बिल्कुल अलग ही आर्थिक जीवन-दृष्टि रही है। यहां जातियां व्यवसाय के आधार पर अवश्य संगठित हुई थी। हर एक जाति का लक्ष्य संपूर्ण समाज की एक न एक आवश्यकता पूर्ण करना था। व्यक्तिगत समृद्धि के लिए जातियों का गठन नहीं हुआ था। हर व्यक्ति संपूर्ण समाज को अपना व्यापक परिवार मानकर उसे सुखी और समृद्ध बनाने के लिए अपना जीवन लगाता था। उसी में उसका कुटुंब भी पला करता था। संत कबीर का जीवन उसी का एक नमूना था। भारत में ऐसे संत लगभग हर जाति में हुए हैं। इस विशेषता के कारण ही भारत में 'वर्ग-संघर्ष' की कल्पना उद्‌भव ही नहीं हुई थी। 'वर्ग-संघर्ष' समाज में विद्वेष, विघटन और कलह पैदा करता है। वह एकात्मता के पूर्णतः विपरीत है। इस वस्तुस्थिति का बोध न होने के कारण जो व्यक्ति समाज में एकात्मता का प्रतिपादन करता है, वही व्यक्ति 'वर्ग-संघर्ष' मूलक यूनियन बाजी की भी वकालत करता है। ऐसे परस्पर विरोधी कार्य 'भारतीयता' के नाम पर स्वतंत्र भारत में चलाए जा रहे हैं।

भारत की औद्योगिक नीति एकात्मता के आधार पर चला करती थी। उद्योग के तीन अंग हैं - पूंजी, श्रम और प्रबंध। उद्योग की सफलता इन तीनों अंगों की परस्पर पूरकता पर निर्भर करती है। उद्योग का लक्ष्य समाज की आवश्यकता पूर्ण करना था। बचत पर तीनों अंगों का समान अधिकार होता था। उद्योगों की इकाई परिवार होती थी। परिणामस्वरूप, समाज में न विषमता की भीषणता उपस्थित होती थी, न बेकारी की संभावना। स्वतंत्र भारत को उसी आधार पर औद्योगिक नीति विकसित करनी चाहिए थी।

जयप्रकाश जी की ''समग्र-क्रांति'' और दीनदयाल जी के ''एकात्म मानव दर्शन'' का एक ही लक्ष्य है – भारतीय सामाजिक जीवन-दृष्टि को पुनर्प्रस्थापित करना।

प.पू. गुरू जी के आशीर्वाद से दीनदयाल शोध संस्थान का जन्म हुआ था। उन्हीं के करकमलों से इसका उद्घाटन हुआ था। उद्घाटन समारोह को पाण्डिचेरी के अरविंद आश्रम की पूज्य माता जी ने अपना शुभाशीर्वाद भेजा था। दीनदयाल शोध संस्थान ''एकात्म मानव दर्शन'' को व्यवहारिक धरातल पर साकार करने के लिए कृतसंकल्पित है।

संस्थान ने इस कार्य को अनेक ग्रामीण अंचलों में प्रयोगात्मक रूप में आजमा कर देखा है। इन प्रयोगों के अनुभवों के निचोड़ को चित्रकूट क्षेत्र में अधिक विकसित किया जा रहा है।

इन अनुभवों ने ''एकात्म मानव दर्शन'' की व्यवहारिकता को रेखांकित किया है।

शुभाकांक्षी –

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली से हम अनभिज्ञ नहीं थे। ढाई हजार साल पूर्व भी अपने यहां गणतंत्र के रूप में लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमें देश के लिए अपने गत अनुभवों के आधार पर शासन-प्रणाली स्वयं निर्मित करनी चाहिए थी। भूतकाल में हम केवल स्वतंत्र ही नहीं थे, अपितु सर्वाधिक सभ्य राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। मानव मात्र के सुखमय जीवन-निर्माण करने वाली संस्कृति के हम अधिष्ठाता थे। कौटुम्बिक अवधारणा के आधार पर हमारी शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। अपनी गतिशील सामाजिक जीवन-दृष्टि के आधार पर स्वतंत्र भारत की शासन-व्यवस्था हम स्वयं निर्माण कर सकते थे।

किन्तु स्वतंत्र हुए भारत के नेतृत्व ने अमानवीय सभ्यता के अधीन सम्पन्न देशों में प्रचलित शासन-व्यवस्था को ''रेडिमेड'' व्यवस्था के नाते अपना लिया। दुर्भाग्य से अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करने की बुद्धि समय पर काम नहीं आई।

भारत को डेढ़ सौ साल गुलाम बनाकर उसका सब प्रकार से सतत् शोषण करने वाले अंग्रेजों की शासन-प्रणाली जैसी थी – उसी को हमने अपनाया। उसी से देश और समाज का भविष्य-निर्माण करने की हम अपेक्षा कर रहे हैं।

चतुराई से भारत का विभाजन करने वाले ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ लॉर्ड माउंट बैटन को ही हमने स्वयं स्वतंत्र भारत का प्रथम 'गवर्नर जनरल' बनाया। अंग्रेजों की हुकूमत उखाड़ने के लिए फांसी के फंदों पर झूलने वाले युवा देशभक्तों की भावनाओं की यह घोर अवमानना थी।

गत 60 वर्षों में हम संसार में सबसे बड़े लोकतंत्र का डंका पीट रहे हैं। किन्तु क्या लोकतंत्र की तनिक भी भावना हम कार्यान्वित कर पा रहे हैं? लोकतंत्र में समाज के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता की अनुभूति होनी चाहिए। तभी नागरिक देश की उन्नति के लिए जुट सकते हैं। उन्हें अपने देश का उज्ज्वल भविष्य-निर्माण करने की चिंता होती है। तभी वह राष्ट्र उन्नति कर सकता है। किन्तु इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, देश के नागरिक हर बात के लिए शासन की ओर टकटकी लगाए हुए हैं, जैसे गुलामी के काल में होता रहा है। वे स्वयं अपनी और अपने देश की उन्नति का मार्ग अपना नहीं रहे हैं। क्या इसे हम लोकतंत्र मानेंगे? जिसमें देश के नागरिक स्वावलंबी नहीं होंगे, उस देश में स्वाभिमान क्या कभी आ सकेगा? स्वाभिमान स्वावलबन के बिना संभव नहीं है। स्वतंत्र देश का नागरिक स्वयं स्वावलंबी हो, तभी देश की स्वतंत्रता सार्थक है। अन्यथा, स्वतंत्रता और गुलामी में कोई अंतर नहीं रह जाता।

देश में 543 निर्वाचित सांसद हैं, इनमें 321 ग्रामीण क्षेत्र से चुनकर आते हैं। 138 सांसद ऐसे चुनाव क्षेत्र से निर्वाचित होते हैं, जिनमें शहरी और ग्रामीण अंचल से मिले-जुले क्षेत्र आते हैं और केवल 84 सांसद शुद्ध शहरी क्षेत्र से निर्वाचित होते हैं। इसका अर्थ है, सांसदों की अधिकांश संख्या ग्रामीण क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है। वह ग्रामीण क्षेत्र आजादी के 60 साल के बाद भी बेकारी और भुखमरी से त्रस्त है और शहर दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक गुलजार होते जा रहे हैं। क्या यह लोकतंत्र का रूप है?

वस्तुतः स्वतंत्र भारत में राजशाही चल रही है। देश में सभी पार्टियां राजशाही का अवलंबन किए हुए हैं। नेहरू से लेकर श्रीमती सोनिया गांधी तक सभी शासक अपनी-अपनी मनमानी चलाते रहे हैं। उनका केन्द्र हमेशा दिल्ली या प्रदेश की राजधानियां रही हैं। अतः देश का सारा ऐश्वर्य इन राजधानियों में समाता गया है। सांसद भी शासकों के अनुसार ही आचरण करते हैं। सभी सांसद दिल्ली में और विधायक शहरों में अपने निवास-स्थान बना रहे हैं। अपनी संतान को शहरों में पब्लिक स्कूल में पढ़ा रहे हैं। उन्हें अपने विधायकों के सहयोग से निर्वाचन क्षेत्र के नागरिकों की चिंता करनी चाहिए। इसी के लिए उनको वेतन और भत्ता मिलता है। लेकिन उन्हें यह बात समझाने का आज तक किसी भी पार्टी के नेता ने प्रयास नहीं किया है। अन्यथा, देश में गरीबी और भुखमरी की दुर्दशा उत्पन्न ही नहीं होती। सभी नागरिक स्वावलंबी, कर्तृत्ववान और प्रतिभाशाली सिद्ध होते। 60 साल में भारत संसार का अनुकरणीय लोकतंत्र बन जाता। इस दिशा में सोचने के स्थान पर सभी नेता ऐन चुनाव के मौके पर प्रचार-प्रसार के माध्यम से लोगों को गुमराह कर रहे हैं। भीड़ जुटाने के लिए अब तो अभिनेताओं का भी उपयोग किया जा रहा है और पूंजीपतियों की थैलियाँ चुनाव के काम में खुलकर काम आ रही हैं। वास्तविक यह लोकतंत्र का उपहास है। इस स्थिति के लिए सभी दलों के नेता जिम्मेदार हैं।

राजनेतागण देश में एकात्मता के स्थान पर वोट पाने की राजनीति के लिए कहीं जाति के, कहीं मजहब के, कहीं क्षेत्रीयता के और कहीं भाषा के नाम पर लोगों को विखण्डित कर रहे हैं। अंग्रेजी शासन के पूर्व हमारे यहां मुस्लिम आक्रमणकारियों का शासन था। उस समय देश में हिन्दू-मुस्लिम भावना थी। किन्तु अब समय बदल गया है। सभी लोग भारत के नागरिक बने हैं। अब हिन्दू-मुस्लिम के रूप में समाज को बांटना गलत है। हम सभी लोग भारतीय हैं। अपने को भारतीय कहने में किसी को भी ऐतराज नहीं है। इसी भावना को वास्तविक आज महत्व दिया जाना चाहिए। इसी कारण, "एकात्म मानव दर्शन" को प्रचलित करने की आवश्यकता है। उसके बिना देश को अभिन्न बनाए रखना असंभव है।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

दिनांक : 08/01/2007

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,
गांधी जी ने 05 अक्तूबर, 1945 को नेहरू को पत्र लिखा था।

05 अक्तूबर, 1945

चि. जवाहरलाल,

तुमको लिखने को तो कई दिनों से इरादा किया था, लेकिन आज ही उसका अमल कर सकता हूँ। अंग्रेजी में लिखूं या हिन्दुस्तानी में यह भी मेरे सामने सवाल रहा था। आखिर में मैंने हिन्दुस्तानी में ही लिखने का पसंद किया।

पहली बात तो हमारे बीच में जो बड़ा मतभेद हुआ है उसकी है। अगर वह भेद सचमुच है तो लोगों को भी जानना चाहिए। क्योंकि उनको अंधेरे में रखने से हमारा स्वराज का काम रूकता है। मैंने कहा है कि 'हिन्द स्वराज' में मैंने लिखा है उस राज्य पद्धति पर मैं बिलकुल कायम हूँ। यह सिर्फ कहने की बात नहीं है, लेकिन जो चीज मैंने सन् 1909 में लिखी है उसी चीज का सत्य मैंने अनुभव से आज तक पाया है। आखिर में एक ही उसे मानने वाला रह जाऊं, उसका मुझको जरा-सा भी दुःख न होगा। क्योंकि मैं जैसे सत्य पाता हूँ उसका मैं साक्षी बन सकता हूँ। 'हिन्द स्वराज' मेरे सामने नहीं है। अच्छा है कि मैं उसी चित्र को आज अपनी भाषा में खेंचु। पीछे वह चित्र सन् 1909 जैसा ही है या नहीं, उसकी मुझे दरकार न रहेगी, न तुम्हें रहनी चाहिए। आखिर में तो मैंने पहले क्या कहा था, उसे सिद्ध करना नहीं है, आज मैं क्या कहता हूँ वही जानना आवश्यक है। मैं यह मानता हूँ कि अगर हिन्दुस्तान को कल देहातों में ही रहना होगा, झोपड़ियों में, महलों में नहीं। कई अरब आदमी शहरों और महलों में सुख से और शांति से कभी रह नहीं सकते, न एक-दूसरों का खून करके - मायने हिंसा से, न झूठ से - यानी असत्य से। सिवाय इस जोड़ी के (यानी सत्य और अहिंसा) मनुष्य जाति का नाश ही है, उसमें मुझे जरा-सा भी शक नहीं है। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन केवल देहातों की सादगी में ही कर सकते हैं। वह सादगी चर्खा में और चर्खा में जो चीज भरी है उसी पर निर्भर है। मुझे कोई डर नहीं है कि दुनिया उल्टी ओर ही जा रही दिखती है। यों तो पतंगा जब अपने नाश की ओर जाता है तब सबसे ज्यादा चक्कर खाता है और चक्कर खाते-खाते जल जाता है। हो सकता है कि हिन्दुस्तान इस पतंगे के चक्कर में से न बच सके। मेरा फर्ज है कि आखिर दम तक उसमें से उसे और उसके मारफत जगत को बचाने की कोशिश करूं। मेरे कहने का निचोड़ यह है कि मनुष्य जीवन के लिए जितनी जरूरत की चीज

है, उस पर निजी काबू रहना ही चाहिए - अगर न रहे तो व्यक्ति बच ही नहीं सकता है। आखिर तो जगत व्यक्तियों का ही बना है। बूंद नहीं है तो समुद्र नहीं है। यह तो मैंने मोटी बात ही कही - कोई नई बात नहीं की।

लेकिन 'हिन्द स्वराज' में भी मैंने यह बात नहीं की है। आधुनिक शास्त्र की कदर करते हुए पुरानी बात को मैं आधुनिक शास्त्र की निगाह से देखता हूँ तो पुरानी बात इस नए लिबाश में मुझे बहुत मीठी लगती है। अगर ऐसा समझोगे कि मैं आज के देहातों की बात करता हूँ तो मेरी बात नहीं समझोगे। मेरे देहात आज मेरी कल्पना में ही हैं। आखिर में तो हर एक मनुष्य अपनी कल्पना की दुनिया में ही रहता है। इस काल्पनिक देहात में देहाती जड़ नहीं होगा - शुद्ध चैतन्य होगा। वह गंदगी में, अंधेरे कमरे में जानवर की जिन्दगी बसर नहीं करेगा, मर्द और औरत दोनों आजादी से रहेंगे और सारे जगत के साथ मुकाबला करने को तैयार रहेंगे। वहां न हैजा होगा, न मरकी (प्लेग) होगी, न चेचक होंगे। कोई आलस्य में रह नहीं सकता है, न कोई ऐश-आराम में रहेगा। सबको शारीरिक मेहनत करनी होगी। इतनी चीज होते हुए मैं ऐसी बहुत-सी चीज का ख्याल करा सकता हूँ जो बड़े पैमाने पर बनेगी। शायद रेलवे भी होगी, डाकघर, तारघर भी होंगे। क्या होगा, क्या नहीं उसका मुझे पता नहीं। न मुझको उसकी फिकर है। असली बात को मैं कायम कर सकूं तो बाकी आने की और रहने की खूबी रहेगी और असली बात को छोड़ दूं तो सब छोड़ देता हूँ।

उस रोज जब हम आखिर के दिन वर्किंग कमेटी में बैठे थे तो ऐसा कुछ फैसला हुआ था कि इसी चीज को साफ करने लिए वर्किंग कमेटी 2-3 दिन के लिए बैठेगी। बैठेगी तो मुझे अच्छा लगेगा, लेकिन न बैठे तब भी मैं चाहता हूँ कि हम दोनों एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ लें। उसके दो सबब हैं। हमारा संबंध सिर्फ राज कारण का नहीं है। उससे कई दरजे गहरा है। उस गहराई का मेरे पास कोई नाप नहीं है। वह संबंध टूट भी नहीं सकता। इसलिए मैं चाहूंगा कि हम दोनों में से एक भी अपने को निकम्मा नहीं समझते हैं। हम दोनों हिन्दुस्तान की आजादी के लिए ही जिन्दा रहते हैं, और उसी आजादी के लिए हमको मरना भी अच्छा लगेगा। हमें किसी की तारीफ की दरकार नहीं है। तारीफ हो या गालियां - एक ही चीज हैं। खिदमत में उसे कोई जगह ही नहीं है। अगर मैं 125 वर्ष तक सेवा करते-करते जिन्दा रहने की इच्छा करता हूँ तब भी मैं आखिर में बूढ़ा हूँ और तुम मुकाबले में जवान हो। इसी कारण मैंने कहा है कि मेरे वारिस तुम हो। कम से कम उस वारिस को मैं समझ लूं और मैं क्या हूँ वह भी वारिस समझ ले तो अच्छा ही है और मुझे चैन रहेगा।

और एक बात। मैंने तुमको कस्तुरबा ट्रस्ट के बारे में और हिन्दुस्तानी के बारे में लिखा था। तुमने सोचकर लिखने को कहा था। मैं पाता हूँ कि हिन्दुस्तानी सभा में तो तुम्हारा नाम है ही। नाणावटी ने मुझको याद दिलाया कि तुम्हारे पास और मौलाना साहब के पास वह पहुंच गया था और तुमने अपने दस्तखत दे दिए हैं। वह तो सन् 1942 में था। वह जमाना गुजर गया। आज हिन्दुस्तानी कहां है उसे जानते हो। उसी दस्तखत पर कायम

हो तो मैं उस बारे में तुमसे काम लेना चाहता हूँ। दौड़-धूप की जरूरत नहीं रहेगी, लेकिन थोड़ा काम करने की जरूरत रहेगी।

कस्तुरबा स्मारक का काम पेचिदा है। ऊपर जो मैंने लिखा है वह अगर तुमको चूभेगा या चूभता है तो कस्तुरबा स्मारक में भी आकर तुमको चैन नहीं रह सकेगा, यह मैं समझता हूँ।

तुभको जो कहा है इतना ही है बाकी कुछ नहीं रहा है तो मुझे कुछ पूछना नहीं है। लेकिन कुछ समझाने जैसा है तो मुझको समझने की दरकार है।

इस सबके बारे में अगर हमें मिलना ही चाहिए तो हमारे मिलने का वख्त निकालना चाहिए।

तुम बहुत काम कर रहे हो, स्वास्थ्य अच्छा रहता होगा। इन्दु ठीक होगी।

बापु के आशीर्वाद

इसी के उत्तर में नेहरू ने गांधी जी को 9 अक्तूबर, 1945 को पत्र लिखा था।

आनंद भवन, इलाहाबाद

9 अक्तूबर, 1945

प्रिय बापू,

* संक्षेप में कहूं तो मेरा मानना है कि हमारे सामने सवाल सच बनाम झूठ और अहिंसा बनाम हिंसा का नहीं है। सभी का प्रयास होना चाहिए कि आपसी सहयोग एवं शांतिपूर्ण रास्ता हमारा ध्येय हो, और एक ऐसे समाज का निर्माण करना हमारा उद्देश्य जो इस रास्ते पर ले जाने को प्रेरित करता हो। सवाल यह है कि ऐसे समाज का निर्माण केसे हो और इसके अवयव क्या हों? मुझे समझ नहीं आता कि किसी गांव में सच्चाई और अहिंसा पर इतना बल क्यों दिया जाता है? आमतौर पर माना जाता है कि गांवों में रहने वाले लोग बुद्धिमत्ता और सांस्कृतिक तौर पर पिछड़े हुए होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में कोई प्रगति नहीं हो सकती। बल्कि संकुचित विचारों वाले लोगों के झूठे व हिंसक होने की संभावना ज्यादा रहती है।

* इसके अलावा, हमें अपने कुछ लक्ष्य भी तय करने हैं, मसलन, खाद्य सुरक्षा, कपड़े, आवास, शिक्षा, स्वच्छता, वगैरह। ये वे न्यूनतम लक्ष्य हैं जो किसी भी देश या व्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हमें यह देखना है कि हम कितनी तेजी से उन्हें हासिल कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यातायात के आधुनिक साधनों व दूसरी आधुनिक गतिविधियों का विकास और उनकी निरंतर प्रगति भी मुझे अपरिहार्य लगते हैं। इसके अलावा, मुझे कोई और रास्ता नहीं दिखता। भारी उद्योग भी आज की आवश्यकता है और क्या यह सब विशुद्ध ग्रामीण परिवेश में संभव है? व्यक्तिगत तौर पर मेरा मानना है कि भारी और हल्के उद्योगों का यथासंभव विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और बिजली का नेटवर्क बन जाने के बाद यह संभव भी है। देश में अगर दो तरह की अर्थव्यवस्था काम करेंगी तो या तो दोनों के बीच द्वंद्व होगा या एक, दूसरे पर हावी हो जाएगी।

* लाखों-करोड़ों लोगों के लिए महल बनाने का सवाल नहीं है। लेकिन इसका भी कोई कारण नहीं है कि उन सभी को ऐसे सुविधाजनक व आधुनिक घर मिल सकें जहां वे एक अच्छा संस्कारी जीवन जी सकें। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कई भारी-भरकम शहरों में बहुत सी बुराइयां घर कर गई हैं। इनकी निंदा की जानी चाहिए। शायद हमें एक सीमा से अधिक शहरों के विकास पर रोक लगानी होगी, लेकिन साथ ही गांव वालों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना होगा कि वे शहरों की संस्कृति में खुद को ढाल सकें।

* उस बात को कई साल हो गए हैं जब मैंने ''हिन्द स्वराज'' पढ़ी थी। आज मेरे दिमाग में उसकी कुछ धुंधली सी यादें हैं। लेकिन जब मैंने उसे 20 या अधिक साल पहले पढ़ा था तब भी वह मुझे अव्यवहारिक लगी थी। उसके बाद के आपके लेखों व भाषणों से मुझे लगा है कि आप भी उस समय से काफी आगे निकल चुके हैं और आधुनिक परिवेश को समझने लगे हैं। इसलिए मुझे तब आश्चर्य हुआ जब आपने कहा कि वह पुरानी तस्वीर आज भी आपके दिमाग में बसी हुई है। आपको मालूम ही है कि कांग्रेस ने उस तस्वीर पर कभी विचार ही नहीं किया। उसे स्वीकार करने की बात तो छोड़ ही दीजिए। आपने स्वयं भी कभी इसके लिए जोर नहीं दिया। एकाध मामूली से अपवाद को छोड़ कर। यह निर्णय आपको करना है कि इस तरह के आधारभूत लेकिन दार्शनिक सवालों पर कांग्रेस को विचार भी करना चाहिए। मुझे लगता है कि कांग्रेस जैसे संगठन को इस तरह की किसी बहस में नहीं उलझना चाहिए, जिससे लोगों के दिमाग में उलझन पैदा हो और वे वर्तमान में काम करने में असमर्थ हो जाएं। इससे कांग्रेस और देश के दूसरे लोगों के बीच एक दीवार भी खड़ी हो सकती है।

आपका ही,
जवाहरलाल

इन दोनों पत्रों से स्पष्ट होता है कि भारत के भविष्य का चित्र दोनों का एकदम अलग था। इसके बावजूद गांधीजी ने नेहरूजी को ही अपना उत्तराधिकारी माना। इसके रहस्य पर अभी किसी ने पर्दा नहीं हटाया है।

शुभाकांक्षी -

नाना देशमुख

(नाना देशमुख)

(क्रमशः)